हिन्दी त्रैमासिक
विवेक-ज्योति
वर्ष ३४ अंक ३
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर
★ १९९६ ★

प्रबन्ध संपादक तथा व्यवस्थापक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/-	वर्ष ३४ अंक ३	एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३०० /-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २५२६९, २४९५९, २४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(१०८ वीं तालिका)

३९०१. श्रीमती कल्पना नरेन्द्र, मुम्बई (महा.)
३९०२. श्री विजय कुमार बबुना, मुम्बई (महा.)
३९०३. श्री धनंजय शर्मा, बैरन बाजार, रायपुर (म.प्र.)
३९०४. कु. दक्षा शर्मा, रायपुर (म.प्र.)
३९०५. श्री भूपेन्द्र कुमार पटेल, चाम्पा, बीलासपुर (म.प्र.)
३९०६. डॉ. उमा ए. शाह, राजकोट (गुज.)
३९०७. श्रीमती मीरा ए. शाह, अहमदाबाद (गुज.)
३९०८. श्री रवीन्द्र छाबड़ा, श्रीनगर , लातूर (महा.)
३९०९. श्री ओमप्रकाश मिश्रा, ब्राह्मणपारा, रायपुर (म.प्र.)
३९१०. श्री खेमराज दीवान, घोघरा, रायपुर (म.प्र.)
३९११. श्री बाल दत्त जोशी, झांसी (उ.प्र.)
३९१२. श्री राजेश्वर प्रसाद सेन, बिर्नोरी, रायपुर (म.प्र.)
३९१३. श्री फणीन्द्र मण्डल, चन्द्रपुर (महा.)
३९१४. श्री अजय दास, चन्द्रपुर (महा.)
३९१५. श्रीमती जयलक्ष्मी ठाकुर, रायपुर (म.प्र.)
३९१६. श्रीमती सुमन रुधानी, नागपुर (महा.)
३९१७. श्री आर. पी. सुखीजा, रायपुर (म.प्र.)
३९१८. डॉ. डब्ल्यू. जी. वालुंचकर, नागपुर (महा.)
३९१९. श्री गणेश शंकर देशपाण्डे, दुर्ग (म.प्र.)
३९२०. श्री देवी प्रसाद चतुर्वेदी, कसडोल, रायपुर (म.प्र.)
३९२१. श्री अतुल रामदास फिरके, मलकापुर, बुलढाणा (महा.)
३९२२. श्रीमती मधुकर चौधरी, मलकापुर, बुलढाणा (महा.)
३९२३. श्री विजय पी. शंखपाल, नासिक (महा.)
३९२४. श्री बी. एन. मजुमदार, इन्दौर (म.प्र.)
३९२५. श्री अशोक सिंह सेंगर, बड़वाहा, खरगोन (म.प्र.)
३९२६. श्री कृष्णदेव झा, कोटा, रायपुर (म.प्र.)
३९२७. श्री उदयराज सिंह, रिसाली, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
३९२८. श्रीमती मधुलिका केजरीवाल, मुम्बई (महा.)
३९२९. सुश्री नूपुरलता लोहा, दमोह (म.प्र.)
३९३०. श्री वीरेन्द्र इटोरिया, दमोह (म.प्र.)
३९३१. श्री श्याम शिवहरे, दमोह (म.प्र.)

३९३२. श्री विनोद अग्रवाल, दमोह (म.प्र.)
३९३३. श्री इंशू अरोरा, दमोह (म.प्र.)
३९३४. श्री अमरजीत सिंह जुनेजा, दमोह (म.प्र.)
३९३५. श्री मदन मोहन ताम्रकार, दमोह (म.प्र.)
३९३६. श्री प्रत्युष छाबड़ा, दमोह (म.प्र.)
३९३७. श्री एस. के. चटर्जी, दमोह (म.प्र.)
३९३८. श्री विपिन टण्डन, दमोह (म.प्र.)
३९३९. श्री विमल लहरी, दमोह (म.प्र.)
३९४०. श्री निरमल इटोरिया, दमोह (म.प्र.)
३९४१. श्री सुरेश रामरायका, दमोह (म.प्र.)
३९४२. श्री प्रदीप शेण्डे, दमोह (म.प्र.)
३९४३. श्री डॉ. गोविन्द पाठक, दमोह (म.प्र.)
३९४४. श्री ठाकुर देवी सिंह राजपूत, दमोह (म.प्र.)
३९४५. श्री रमेश श्रीवास्तव, दमोह (म.प्र.)
३९४६. श्री नारायण सिंह ठाकुर, दमोह (म.प्र.)
३९४७. श्रीमती तारा शर्मा, दमोह (म.प्र.)
३९४८. श्री जगदीश वक्षी, दमोह (म.प्र.)
३९४९. श्री किशोर बिहारी खरे, दमोह (म.प्र.)
३९५०. श्री डॉ. आर. एस. वर्मा, दमोह (म.प्र.)
३९५१. श्री राजीव खत्री, दमोह (म.प्र.)
३९५२. श्री द्वारका अग्रवाल, दमोह (म.प्र.)
३९५३. श्री भगवान दास यादव, दमोह (म.प्र.)
३९५४. श्री एस. डी. शर्मा, दमोह (म.प्र.)
३९५५. प्राचार्य, रामकुमार उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, दमोह (म.प्र.)
३९५६. प्राचार्य, शासकीय बहूद्देश्यीय माध्यमिक शाला, दमोह (म.प्र.)
३९५७. प्राचार्य, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह (म.प्र.)
३९५८. श्री डॉ. अरुण जायसवाल, दमोह (म.प्र.)
३९५९. श्री एस. बी. श्रीवास्तव, दमोह (म.प्र.)
३९६०. प्राचार्य, ज. प्र. बी. कन्या उच्चतर माध्यमिक शाला, दमोह (म.प्र.)
३९६१. प्राचार्य, शासकीय कमला नेहरू कन्या महाविद्यालय, दमोह (म.प्र.)
३९६२. श्री अजीत श्रीवास्तव, दमोह (म.प्र.)
३९६३. श्रीमती कोनिका बनर्जी, कानपुर (उ.प्र.)
३९६४. सुश्री दमयन्ती झुनझुनवाला, कलकत्ता (प.बं.)
३९६५. श्री ऋषिराज एस. चौहान, नागपुर (महा.)

अनुक्रमणिका

मुद्रक . संयोग आफसेट प्रा.लि., बजरंगनगर, रायपुर, फोन : २६६०३
कम्पोजिंग : अल्फा लेज़र स्पॉट, गीतानगर, रायपुर, फोन : २३५७७

शिव महिमा

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो
नीरागेषु जनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात् परः ।
दुर्वारस्मरवाणपन्नगविषव्याविद्धमुग्धो जनः शेषः
कामविडम्बितान्न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ।।

अन्वय — रागिषु (नारी-आसक्त पुरुषों में) प्रियतमा-देहार्ध-धारी (अपनी प्रियतमा पार्वती का आधा शरीर धारण किये) एकः (एकमात्र) हर (महादेव) राजते (शोभित हो रहे हैं), नीरागेषु (विरागियों में भी) यस्मात् (जिनके) परः (अतिरिक्त) विमुक्त-ललना-संगः (स्त्री-संग-परित्यागी) जनः (व्यक्ति) न (नहीं है)। दुर्वारः (दुर्दम्य) स्मर (कामदेव) -वाण (के वाणरूपी) -पन्नग (सर्प) -विष (विष अर्थात् वैसे ही व्यामोह) -व्याविद्ध (से अभिभूत तथा) मुग्धः (विमूढ़) शेषः (बाकी) जनः (लोग) काम-विडम्बितान (काम से वशीभूत होकर) विषयान् (विषय भोगों का) भोक्तुं (भोग करने) मोक्तुं(या त्याग करने में) न क्षमः (समर्थ नहीं हैं)।

अर्थ — अनुरागी प्रेमियों में महादेव अतुलनीय रूप से विराज रहे हैं, जिन्होंने अपनी प्रियतमा का आधा शरीर अपने अंग में धारण कर लिया है और दूसरी तरफ स्त्री-संग परित्यागी विरागियों में भी उनके समान अन्य कोई नहीं है। बाकी सामान्य मायामुग्ध जन तो दुर्दम्य कामदेव के सर्पविषयुक्त बाण से आहत होकर उपलब्ध विषयों का न तो भोग कर पाते हैं और न त्याग ही।

- भर्तृहरिकृत वैराग्यशकतम्, १७

जीवन - संगीत

(H. W. Longfellow की सुप्रसिद्ध कविता
'A Psam of Life' का भावानुवाद)

कहो कभी न उदास स्वरों में, जीवन है इक स्वप्न असत्य;
सोता जो उसको मृत समझो, सत्य न सब जो लगता सत्य।
जीवन सच है और सार्थक, मृत्यु नहीं है इसका अन्त;
नहीं धूल में कभी मिलोगे, तुम हो चिर आत्मा अनन्त।
सुख भी नहीं न दुख ही अपना, जीवन-मार्ग और गन्तव्य;
दिन-पर-दिन आगे बढ़ जाना, ही है जीवन का कर्तव्य।
कला बहुत जीवन क्षणभंगुर, हृदय सबल लो इसको जान;
तो भी हैं बज रहे वाद्य सब, अन्तिम यात्रा चली श्मशान।
विश्व एक संग्राम-क्षेत्र है, सैन्य शिविर है यह जीवन;
बनो न मूक भारवाही पशु, साहस दिखलाओ प्रतिक्षण।
भावी सुख के स्वप्न न देखो, मृत अतीत ढोवे निज लाश;
वर्तमान में कार्य करो तुम, रखकर ईश्वर में विश्वास।
महत्-जनों का जीवन प्रतिपल, देता है सन्देश सभी को;
हम भी महिमामय कर सकते, अपने छोटे से जीवन को।
जब 'विदा' कहेंगे इस जग को, पदचिह्न छोड़कर जायेंगे;
वे समय-बालुका पर अंकित चिरदिन तक देखे जायेंगे।
थककर यदि हुआ निराश कहीं, शायद कोई चलता राही;
उन पदचिह्नों को देख वहाँ, पा जाये अभिनव आशा ही।
अतएव चलो हम जुट जायें, अपना भविष्य खुद गढ़ने को;
सीखेंगे अविरत श्रम करना, उन्नति की सीढ़ी चढ़ने को।

'विदेह'

अग्नि-मंत्र

(श्री जी.जी. नरसिंहाचारियर को लिखित)

शिकागो,
११ जनवरी, १८९५ ई.

प्रिय जी.जी.

तुम्हारा पत्र अभी मिला। ...अन्य धर्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म को महत्तर प्रदर्शित करने के लिए ही धर्ममहासभा का आयोजन हुआ था, तथापि तत्त्वज्ञान से पुष्ट हिन्दुओं का धर्म अपने पक्ष का समर्थन करने में सफल हुआ। डॉक्टर बैरोज और उनकी तरह के लोग बड़े ही कट्टर हैं और उनसे मैं सहायता की आशा नहीं रखता। ... भगवान् ने मुझे इस देश में बहुत से मित्र दिये हैं और उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती ही जा रही है, जिन लोगों ने मुझे हानि पहुँचाने का प्रयास किया है, ईश्वर उनका कल्याण करें! ...मैं बराबर न्यूयार्क और बोस्टन के बीच यात्रा करता रहा। इस देश के ये ही दो बड़े केन्द्र हैं, जिनमें से बोस्टन को यहाँ का मस्तिष्क कहा जा सकता है और न्यूयार्क को उसका मनीबैग। दोनों ही स्थानों पर मुझे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। मैं समाचार-पत्रों के विवरणों के प्रति उदासीन हूँ, इसलिए तुम मुझसे यह आशा न करो कि उनमें से किसी के विवरण तुम्हें भेजूँगा। काम आरम्भ करने के लिए थोड़े से शोरगुल की आवश्यकता थी, वह जरूरत से ज्यादा हो चुका है।

मैं मणि अय्यर को लिख चुका हूँ और तुम्हें भी निर्देश दे चुका हूँ, 'अब तुम मुझे दिखाओ कि तुम क्या कर सकते हो।' अब व्यर्थ की बकवास का नहीं, असली काम का समय है; हिन्दुओं को अपनी बातों का काम से समर्थन करना है, यदि वे ऐसा नहीं कर सकते हैं, तो वे किसी वस्तु के योग्य नहीं, बस, इतनी सी बात है। अमेरिकावाले तुम लोगों को तुम्हारी सनकों के लिए धन नहीं देंगे। और क्यों दें भला? जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं तो सत्य की शिक्षा देना चाहता हूँ, चाहे वह यहाँ हो या कहीं और।

लोग तुम्हारे या मेरे अनुकूल या विरूद्ध क्या कहते हैं, भविष्य में इस पर ध्यान न दो। काम करो, सिंह बनो, प्रभु तुम्हारा कल्याण करें। मैं मृत्युपर्यन्त निरन्तर काम करता रहूँगा और मृत्यु के बाद भी संसार की भलाई के लिए काम करता

रहूँगा। सत्य का प्रभाव असत्य की अपेक्षा अनन्त है और वैसे ही अच्छाई का भी। यदि तुममें ये गुण है, तो उनकी आकर्षण-शक्ति से ही तुम्हारा मार्ग साफ हो जायगा।

थियासॉफिस्टों से मेरा कोई सम्पर्क नहीं। और जज मेरी सहायता करेंगे! हुँह! ... हजारों सज्जन लोग मेरा सम्मान करते हैं और तुम यह जानते हो; इसलिए भगवान पर भरोसा रखो। मैं इस देश में धीरे धीरे ऐसा प्रभाव डाल रहा हूँ, जो समाचार-पत्रों में लाख ढिंढोरा पीटने से भी नहीं हो सकता था। यहाँ के कट्टरपन्थी इसे महसूस करते हैं, पर कुछ कर नहीं सकते। यह है चरित्र का प्रभाव, पवित्रता का प्रभाव, सत्य का प्रभाव, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रभाव। जब तक ये गुण मुझमें हैं, तब तक तुम्हारे लिए चिन्ता का कोई कारण नहीं; कोई मेरा बाल भी बाँका न कर सकेगा। यदि वे प्रयत्न करेंगे, तो भी असफल रहेंगे। ऐसा भगवान ने कहा है। ... सिद्धान्त और पुस्तकों की बातें बहुत हो चुकीं। 'जीवन' ही उच्चतम वस्तु है और जनता का हृदय स्पन्दित करने के लिए यही एक मार्ग है -- इसमें व्यक्तिगत आकर्षण होता है। ... दिन-प्रतिदिन भगवान मेरी अन्तर्दृष्टि को तीव्र से तीव्रतर करता जा रहा है। काम करो, काम करो, काम करो। ... व्यर्थ की बकवास रहने दो; प्रभुचर्चा करो। जीवन की अवधि अत्यन्त अल्प है और यह झक्की तथा कपटी मनुष्यों की बातों में बिताने के लिए नहीं है।

हमेशा याद रखो कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य को भी अपनी अपनी रक्षा करनी होगी। दूसरों से सहायता की आशा न रखो। कठिन परिश्रम करके यहाँ से मैं कभी कभी थोड़ा-सा रुपया तुम्हारे काम के लिए भेज सकूँगा; परन्तु इससे अधिक मैं कुछ नहीं कर सकता। यदि तुम्हें उसी के आसरे रहना है, तो काम बन्द कर दो। यह भी समझ लो कि मेरे विचारों के लिए यह एक विशाल क्षेत्र है और मुझे इसकी परवाह नहीं कि यहाँ के लोग हिन्दू है, मुसलमान हैं या ईसाई। जो ईश्वर से प्रेम करता है, मैं उसी की सेवा में सदैव तत्पर रहूँगा। ...

मुझे चुपचाप शान्ति से काम करना अच्छा लगता है और प्रभु हमेशा मेरे साथ है। यदि तुम मेरे अनुगामी बनना चाहते हो, तो सम्पूर्ण निष्कपट होओ, पूर्ण रूप से स्वार्थ त्याग करो और सबसे बड़ी बात है कि पूर्ण रूप से पवित्र बनो। मेरा आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ है। इस अल्पायु में परस्पर प्रशंसा का समय नहीं है। संघर्ष समाप्त हो जाने के बाद किसने क्या किया, इसकी हम तुलना और एक दूसरे

की यथेष्ट प्रशंसा कर लेंगे। लेकिन अभी बातें न करो; काम करो, काम करो, काम करो! मैंने तुम्हारा भारत में किया हुआ कोई स्थायी काम नहीं देखा — मैं तुम्हारा स्थापित किया हुआ कोई केन्द्र नहीं देखता हूँ, न कोई मन्दिर या सभागृह ही देखता हूँ! मैं किसी को तुम्हें सहयोग देते भी नहीं देख रहा हूँ। बातें, बातें, बातें! यहाँ इसकी कमी नहीं है! 'हम बड़े हैं', 'हम बड़े हैं!' सब बकवास! हम लोग जड़बुद्धि हैं, और यही तो हैं हम! यह नाम और यश की प्रबल आकांक्षा, और अन्य सब पाखण्ड — ये सब मेरे लिए क्या मायने रखते हैं? मुझे उनकी क्या परवाह? मैं सैकड़ों को परमात्मा के निकट आते हुए देखना चाहता हूँ! तुम उन्हें ढूँढ़ निकालो। तुम मुझे केवल नाम और यश देते हो। नाम और यश को छोड़ो, काम में लगो, मेरे वीरो, काम में लगो! मेरे भीतर जो आग जल रही है — उसके संस्पर्श से अभी तक तुम्हारा हृदय अग्निमय नहीं हो उठा — तुमने अभी तक मुझे नहीं पहचाना। तुम आलस्य और सुख-भोग की लकीर पीट रहे हो। आलस्य का त्याग करो, इहलोक और परलोक के सुख-भोग को दूर हटाओ। आग में कूद पड़ो और लोगों को परमात्मा की ओर ले जाओ।

मेरे भीतर जो आग जल रही है, वही तुम्हारे भीतर जल उठे, तुम अत्यन्त निष्कपट बनो, संसार के रणक्षेत्र में तुम्हें वीरगति प्राप्त हो — यही मेरी निरन्तर प्रार्थना है।

विवेकानन्द

पु. — आलासिंगा, किडी, डॉक्टर, बालाजी, और अन्य सभी से यह कहो कि राम, श्याम, हरि — कोई भी व्यक्ति हमारे पक्ष में या हमारे विरुद्ध जो कुछ भी कहे, उसको लेकर माथापच्ची न करें, वरन् अपनी समस्त शक्ति एकत्र कर कार्य में लगायें।

वि.

□
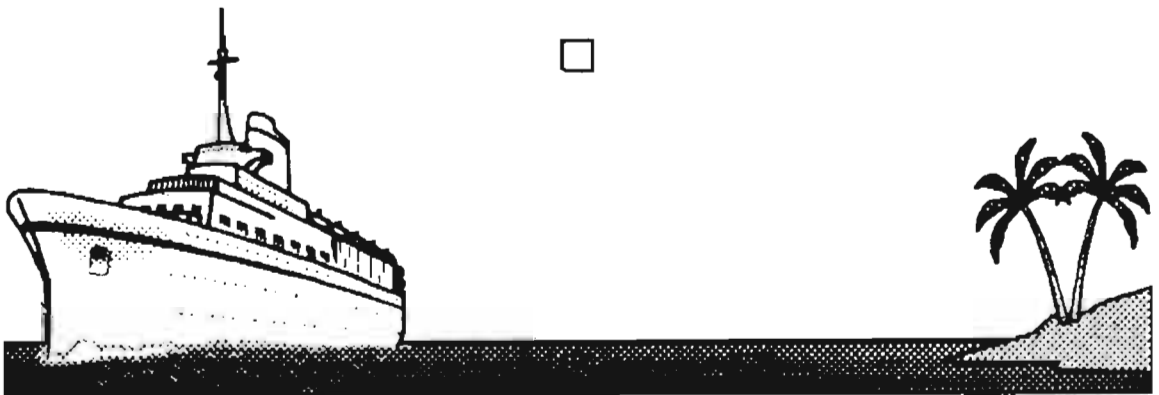
स्वाध्याय की आदत

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है। — सं.)

मनुष्य अपने जीवन में कई प्रकार की आदतें डाल लिया करता है। तन और मन से प्रिय लगनेवाली आदतें तो बहुत जल्दी लग जाती हैं, पर विवेक को रुचनेवाली आदतों का निर्माण प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है। जल को नीचे बहने में किसी प्रकार का श्रम नहीं लगता, बल्कि ढाल में उसकी गति अपने आप तेज हो जाती है, पर उसे यदि कोई ऊपर ले जाना चाहे, तो श्रम करना पड़ता है, पम्प लगाना पड़ता है। उसी प्रकार जो बातें मन को निम्नगामी बनाती हैं, उनकी आदत अपने आप लग जाती है, पर जिनसे मन ऊर्ध्वगामी बनता है, उनकी आदत प्रयत्नपूर्वक लगानी पड़ती है। ऐसी ही आदतों में से एक है स्वाध्याय यानी अध्ययन का अभ्यास।

कई लोगों को हल्की-पुल्की कहानियाँ और उपन्यास पढ़ने का शौक होता है, पर इसे अध्ययन नहीं कहा जायगा। अध्ययन वह है, जिसके द्वारा हम कुछ सीखने की कोशिश करते हैं। स्वाध्याय हममें ज्ञान पैदा करता है। ज्ञात उसे कहते हैं, जो उचित और अनुचित का भेद बताता है — यह सिखाता है कि किससे व्यक्ति का कल्याण होता है और किससे अकल्याण। अध्ययन मनुष्य को बुराइयों से बचाता है।

कहा जा सकता है कि इतिहास में ऐसे भी महान व्यक्ति हुए हैं, जो लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे, जिनके लिए अध्ययन-स्वाध्याय सम्भव नहीं था। पर यह तर्क अध्ययन की उपयोगिता को दबा नहीं सकता। बिना पढ़े भी मनुष्य महान् हो सकता है, पर यह अपवाद है, सामान्य नियम नहीं। और हम तो सामान्य स्तर पर सर्वसामान्य लोगों के लिए यह चर्चा कर रहे हैं। अध्ययन वह खराद है, जिसके द्वारा आत्मसंस्कार साधित होता है।

स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे इतने विद्या-व्यसनी थे, इतने अध्ययन-प्रेमी थे कि मोटा-से-मोटा ग्रन्थ अल्प समय में पढ़ लेते थे। वे पृष्ठ

की पहली और अन्तिम पंक्तियों को पढ़कर पूरे पृष्ठ का कथ्य समझ लेते थे। उनकी यह प्रतिभा अध्ययन का ही फल थी। फिर कहा जाता है कि उन्होंने ऐसी दो बातें कहा थीं, जिन्हें भविष्यवाणी का दर्जा दिया जा सकता है। विश्वप्रसिद्ध होने से पूर्व अमेरिका के अनिस्क्वाम नामक गाँव की घटना है, जहाँ उन्होंने एक तो यह कहा था कि जब अँगरेज भारत छोड़कर चले जाएँगे, तब चीनियों द्वारा भारत पर आक्रमण का खतरा बना रहेगा; और दूसरा यह कि आगामी दिनों में एक ऐसी महान् हलचल, जो विश्व में नये युग का प्रारम्भ करेगी, या तो रूस से शुरू होगी अथवा चीन से। यह बात उन्होंने जुलाई १८९३ ई० में कही थी। तब श्रोताओं में से किसी को इस पर विश्वास नहीं हुआ। जब एक ने पूछा कि क्या आप भविष्यद्रष्टा हैं? तो स्वामीजी ने कहा था, "मैं भविष्यद्रष्टा नहीं, इतिहासद्रष्टा हूँ।"

स्वामी विवेकानन्द यह जो अपने को इतिहासद्रष्टा कहते हैं, तो उनको यह दृष्टि इतिहास के अध्ययन से ही मिली थी। अध्ययन का, स्वाध्याय का ऐसा ही चमत्कार होता है।

ये तो स्वाध्याय के बड़े लाभ हुए, पर सामान्य जनों के लिए बहुत-से छोटे छोटे लाभ भी हैं। इसके द्वारा हम घर बैठे दुनिया के धुरन्धर विद्वानों के विचारों का लाभ ले सकते हैं तथा विश्व के प्राचीनतम मनीषियों के साथ सत्संग कर सकते हैं। ग्रन्थ के अनुशीलन से देश और काल की दूरियाँ खत्म हो जाती हैं। यदि हम बीमार हों, तो समय अच्छे ढंग से कट जाता है। बूढ़े, अवकाशप्राप्त व्यक्ति को समय मानो काटने को दौड़ता है, वह बिताये नहीं बीतता और उसे अपना जीवन एक फिजूल का बोझ मालूम पड़ता है। पर यदि वह स्वाध्याय की आदत डाल लेता है, तो उसकी ऊपर बतायी समस्याएँ अपने आप मिट जाती हैं और उसे अपने जीवन की सार्थकता मालूम होती है। उसे फिर साथियों का अभाव नहीं खलता।

स्वाध्याय हमें मनोबल प्रदान करता है और हममें अध्यवसाय के प्रति प्रेम भरता है। हतोत्साहित व्यक्ति के लिए भी स्वाध्याय रामबाण दवा है। उसे कोई ऐसा सूत्र मिल जाता है, जिससे उसमें उत्साह की नयी किरण पैदा होती है और वह परिस्थितियों से मुठभेड़ करने के लिए उद्यत हो जाता है। अतएव जीवन में यदि हमें कोई चस्का लगाना ही है, तो हम अध्ययन-स्वाध्याय का ही चस्का लगावें।

□

श्रीरामकृष्ण - वचनामृत - प्रसंग

(चौवनवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ तथा बाद में रामकृष्ण योगोद्यान, काकुड़गाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय द्वारा छह भागों में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। इसके हिन्दी रूपान्तरकार श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं।)

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में ही हम देखते हैं — ठाकुर भक्तों के साथ कीर्तनानन्द में मग्न हैं। दिनांक है १६ अक्तूबर १८८२ ई.। नरेन्द्र को ठाकुर के पास आते अभी अधिक दिन नहीं हुए हैं, इसीलिए वे ब्राह्मसमाज द्वारा रचित भजन ही गाते हैं। वे भजन ब्राह्मसमाज के हैं, तथापि उनके भीतर जो भाव प्रस्फुटित हो उठे हैं, वे सब निराकार के नहीं हैं। "चिदाकाशे होलो पूर्ण" — भजन के अन्तिम अंश में है — "माँ के चरणकमलों में भक्तगण नृत्य-गीत में मग्न हैं।" इस भजन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ब्राह्मसमाज के त्रैलोक्य सान्याल ने ठाकुर के चारों ओर नृत्य-गीत करते भक्तों को देखकर ही यह गीत रचा था।

ब्राह्मसमाज का रूपान्तरण

ब्राह्मसमाज के साधकों में भी ठाकुर का भाव क्रमशः फैल रहा है। वे लोग भगवान का नाम-गुणगान किया करते थे, परन्तु भगवदानन्द में विभोर होकर इस तरह का संकीर्तन उनके बीच प्रचलित नहीं था। ठाकुर के सम्पर्क में आने के बाद ही केशव बाबू के हृदय में भगवान का मातृभाव से आस्वादन करने की वृत्ति प्रस्फुटित हो उठी थी। पाश्चात्य देशों में केशवचन्द्र सेन धर्मवक्ता के रूप में परिचित थे। अध्यापक मैक्समूलर ने पाया कि केशव सेन में परिवर्तन आ रहा है; शान्त भाव की जगह भक्ति का उच्छ्‌वास तथा मातृभाव की उपासना का भाव दिख रहा है। इसका कारण खोजने पर उनकी समझ में आया कि यह श्रीरामकृष्ण के संसर्ग का परिणाम है। मैक्समूलर के मन में श्रीरामकृष्ण के बारे में उत्सुकता जागी। कुछ तथ्य संग्रह करके उन्होंने Nineteenth Century पत्रिका में श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में एक लेख लिखा — A Real Mahatma । बाद में वे स्वामीजी से भी परिचित

हुए और उनके द्वारा भेजे गये तथ्यों के आधार पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण की एक जीवनी लिखी। मैक्समूलर की ठाकुर के प्रति कितनी श्रद्धा थी, इसका परिचय हमें मिला है। स्वामीजी से भेंट होने पर उन्होंने कहा था — आज का दिन मेरे लिए महान है! श्रीरामकृष्ण के साक्षात् पार्षद का संग सर्वदा और हर किसी को नहीं मिलता!

संकीर्तन के बाद नरेन्द्र मास्टर महाशय के साथ तत्कालीन छोकरों के बारे में चर्चा कर रहे थे। उनकी बातें सुनकर ठाकुर बड़े असन्तुष्ट हुए। वे गम्भीर होकर मास्टर महाशय से बोले, "ऐसी बातचीत अच्छी नहीं। ईश्वर की बातों को छोड़ दूसरी बातें अच्छी नहीं। मानवीय चरित्र के दोषों की चर्चा करने से कल्याण नहीं होता, गुणों की चर्चा करने से होता है। शास्त्र कहते हैं — **तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।** (मु. २।२।५) — उस एक आत्मा को ही जानो और अन्य बातों को, अन्य विचारों को छोड़ दो। मन को जिस भाव से रखोगे, वह उसी तरह चलेगा। ठाकुर कहा करते थे — मन धोबी के धुले कपड़े के समान है। उसे जिस रंग में डुबाओगे, वही रंग पकड़ लेगा। दोषदर्शन के फलस्वरूप मन के भीतर दोष प्रविष्ट होगा। बहिरंग दृष्टि से तो ऐसा लगेगा कि मन को ऊर्ध्वगामी करने के लिए यह सब चर्चा हो रही है, किन्तु मन इससे अधोगामी हो जाता है। किसी व्यक्ति के दोषों की चर्चा करते ही हमारा मन उसी स्तर पर उतर आता है। माँ कहती थीं — किसी के दोष मत देखो। दोष न देखने का अर्थ यह नहीं कि आँखें बन्द कर लो। बल्कि तुम अपनी दृष्टि ऐसी बना लो कि वह सबके गुण ही ग्रहण करे, छिद्रान्वेषी न हो।

मास्टर महाशय का स्वप्न

ठाकुर को घेरकर भक्तगण पुनः नृत्य कर रहे हैं। कीर्तन के उपरान्त ठाकुर एक भक्त से पूछते हैं, "क्या तुम कोई स्वप्न भी देखते हो?" वे भक्त मास्टर महाशय स्वयं हैं। स्वप्न का वृत्तान्त सुनकर ठाकुर कहते हैं यह सब सुनकर मुझे रोमांच हो रहा है, ... तुम जल्दी मन्त्र ले लो। मन्त्र लेने को इसलिए कहते हैं ताकि साधना आरम्भ हो, क्योंकि इस स्वप्न के द्वारा मन की एक विशेष अवस्था व्यक्त हो रही है। पर वे ऐसा नहीं कहते कि मन्त्र उन्हीं से लेना है।

हम लोग कभी कभी स्वप्न का बड़ा शाब्दिक अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। ठाकुर कहते हैं कि स्वप्न को उस प्रकार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। स्वप्न के

द्वारा स्वप्नद्रष्टा के अन्तःकरण की इस अवस्था का बोध हो रहा है कि अब उसकी संसार से पार जाने की इच्छा हो रही है। इस आकांक्षा को देखकर ही ठाकुर कहते हैं, "मन्त्र ले लो।" उनके रोमांचित होने का कारण यह है कि उन भक्त के साधना-राज्य में अग्रसर होने का एक शुभ मुहूर्त आ पहुँचा है। मन्त्र लेकर वह एक निर्दिष्ट प्रणाली के अनुसार अपनी साधना आरम्भ कर सकता है। स्वप्न के विषय में हम लोगों की बड़ी अद्भुत धारणाएँ हैं। स्वप्न को सत्य मानकर हम कभी सुख और कभी दुःख पाते हैं। स्मरण रखना होगा कि शास्त्र कभी स्वप्न को सत्य नहीं मानते। स्वप्न पूर्णतः आन्तरिक वस्तु है। मन के भीतर छिपे हुए विचार स्वप्न में साकार रूप धारण कर लेते हैं। स्वप्न स्वप्न ही हैं, उसे हम कभी जाग्रत का सा महत्व न दें। स्वप्न में हम देखते हैं — शिव, काली, ठाकुर या माँ आये और बातें कीं।

तो भी यहाँ पर ठाकुर स्वप्न का वृत्तान्त सुनकर इतने उत्सुक भाव से मन्त्र लेने के लिए क्यों कहते हैं? स्वप्न के द्वारा समझ में आ जाता है कि खेत तैयार है, नहीं तो मन में यह विचार नहीं आता। इसीलिए ठाकुर उत्सुक हुए हैं और विधिवत साधना की आवश्यकता समझकर कहते हैं, "मन्त्र ले लो।" ठाकुर स्वयं ही किसी को, यहाँ तक कि अपने अन्तरंग शिष्यों को भी सहजता से मन्त्र नहीं देते थे। किसी को उन्होंने जिह्वा पर लिखकर मन्त्र दिया है, तो किसी को स्पर्श करते ही उसके भीतर अध्यात्मज्ञान प्रस्फुटित हो उठा है। शास्त्र में इसे शाम्भवी दीक्षा कहते हैं। ठाकुर की दीक्षा देने की कई पद्धतियाँ थीं, पर वह सब न करके, वे कहते हैं, "मन्त्र ले लो।" उनका तात्पर्य था कि मन्त्र लेकर विधिवत साथना प्रारम्भ करो। हम लोग जिसे मन्त्र लेना कहते हैं, यह एक प्रकार की दीक्षा मात्र है, परन्तु यह एकमात्र पद्धति नहीं है। जो लोग महान आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न हैं, वे इच्छामात्र से भक्त के हृदय में भाव का संचार कर सकते हैं। उन्हें श्रुति-दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती।

स्पप्न सुनकर ठाकुर ने क्या समझा यह उन्होंने नहीं बताया, इसीलिए हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ठाकुर क्या बताना चाहते हैं। स्पप्न में है, "जगत जलमय हो गया है" — इससे यह समझ में आता है कि संसार मानो एक दुस्तर सागर है। कुछ नौकाएँ तैर रही थीं, किन्तु एकाएक बाढ़ में डूब गयीं अर्थात् जिन छोटी छोटी नौकाओं से नदी पार किया जाता है, उनसे काम नहीं होगा। यहाँ जहाज की जरूरत है। विशाल आत्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति की सहायता

चाहिए। "उस अकूल समुद्र के ऊपर से एक ब्राह्मण चले जा रहे हैं" — मानो वे दिखा दे रहे हैं कि इस अनन्त जलराशि को पार किया जा सकता है, अनायास ही पार किया जा सकता है, क्योंकि जल के नीचे पुल है। कहाँ जा रहे हैं — पूछने पर उत्तर मिला, "भवानीपुर जा रहा हूँ।"

'भवानीपुर' कहने का अभिप्राय क्या है — भगवान का मातृभाव से चिन्तन? यह भी हो सकता है कि वे 'माँ भवानी' कहना चाहते हों। भक्त कहते हैं, "मैं भी आपके साथ चलूँगा।" उत्तर मिला, "तुम्हारे उतरने मे देर लगेगी।" लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधना की आवश्यकता है, यह हो जाने पर पहुँचा जा सकेगा। वैसे इस स्वप्न का विश्लेषण हमारे मन की ही कल्पना है।

भावमुख में ठाकुर

दूसरे दिन सुबह हुई। भक्तों के जागने से पहले ही ठाकुर उठ गये हैं। दिगम्बर होकर मधुर स्वर में नाम कीर्तन कर रहे हैं। कह रहे हैं, "वेद, पुराण, तन्त्र, गीता, गायत्री, भागवत-भक्त-भगवान।...त्यागी-त्यागी-त्यागी।" फिर कहते हैं, "तुम्हीं ब्रह्म हो, तुम्हीं शक्ति, तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं प्रकृति; तुम्हीं नित्य हो, तुम्हीं लीलामयी; तुम्हीं चौबीस तत्त्व हो।" वे एक ही भगवान की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ देख रहे हैं। भगवान उनके लिए केवल निराकार या केवल साकार नहीं हैं। 'वे ही सब कुछ हैं' — ठाकुर हमेशा इसी भाव में रहते थे। जब वे छह महीनों तक निर्विकल्प समाधि में थे, तब उन्होंने सुना, "भावमुख में रहो।" 'लीलाप्रसंग'कार ने इस 'भावमुख' शब्द की व्याख्या की है — समस्त भावों का मुख या उद्‌गम। भाव माने जो कुछ है — 'भू' धातु से भाव शब्द बना है। समस्त सत्ता का जहाँ पर उत्स है अर्थात् द्वैत-अद्वैत की मिलनभूमि। घर की दहलीज पर एक दीपक रख देने से उसका प्रकाश घर के भीतर भी होता है और बाहर भी। ठीक उसी तरह, भावमुख अवस्था में समस्त भावातीत स्वरूपों का भी अनुभव हो रहा है और दूसरी ओर भावों का भी अनुभव हो रहा है। न्यायशास्त्र में इसे देहली-दीपक-न्याय कहते हैं।

इस भावमुख में रहते हुए ठाकुर के मन में अनन्त भावों का स्फुरण हुआ है। वे कहते हैं, "तुम्हीं ब्रह्म हो, तुम्हीं शक्ति" — किन्तु ये दोनों एक कैसे होंगे? ब्रह्म निष्क्रिय है और शक्ति सक्रिय — यह बात हम जानते हैं, अतः एक के सत्य होने पर दूसरी मिथ्या होगी। एक वस्तु सत्य और दूसरी मिथ्या होने पर, एक साथ कितनी वस्तुओं का बोध होता है? जैसे रज्जु में जब सर्पबोध होता है, तब हम उसे

केवल सर्प देखते हैं, रज्जु तो नहीं देखते — अनुभव होता है दो का, किन्तु दोनों का अनुभव दो रूपों में नहीं हो रहा है, या तो सर्परूप में होता है या रज्जुरूप में। इस अवस्था को छोड़कर एक अवस्था और है, जिसमें सर्प भी देखते हैं और रस्सी भी। ठाकुर कहते हैं — जैसे जगत् को भी देख रहा हूँ और सर्वत्र उन्हें भी। वे ही चौबीस तत्त्व हुए हैं। यह जो 'सब बने हुए हैं' — अद्वैत वेदान्त की भाषा में यह अयौक्तिक बात है। उसके अनुसार — एक है, सब नहीं', फिर विशिष्टाद्वैती कहते हैं — वे ही सब हुए हैं! द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत — ये भाव साधक-जीवन की अवस्थानुसार आते हैं — यह बात हमें विशेष रूप से समझ लेनी होगी।

प्रश्न उठता है कि सर्ववाद क्या समभाव में सत्य हो सकता है? एक ही वस्तु है — वे इच्छा करने पर साकार, निराकार — सब हो सकते हैं। ईश्वर के सर्वमयत्व, सर्वशक्तिमत्ता को हम अपनी सीमित बुद्धि के द्वारा नहीं समझ सकते, इसी कारण तरह तरह के विवाद उत्पन्न होते हैं। इसीलिए अद्वैतवाद में 'एक' कहकर इस भावातीत को नहीं समझाया जा सकता। अद्वैत विशेषण की दृष्टि से नहीं, यहाँ पर निषेधवाचक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है — इसका अर्थ है कि यह द्वैत नहीं है। यह जो अद्वैत अवस्था है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह तत्त्व 'शब्द' के अतीत है। वह अवस्था मन-बुद्धि के अतीत है। ठाकुर भावमुख में थे, इसीलिए अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत निर्गुण, सगुण आदि सभी भावों में थे।

भक्ति का वैशिष्ट्य

इसके बाद का चित्र है — काली मन्दिर और राधाकान्त के मन्दिर में मंगल आरती हो रही है; शंख, घण्टे बज रहे हैं, नौबत से प्रभाती राग की स्वरलहरी उठ रही है। ठाकुर इतने मधुर स्वर से नाम लिया करते थे कि महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) कहते थे कि उसे सुनकर पत्थर भी पिघल जाता।

नरेन्द्र आदि भक्तगण ठाकुर के पास आकर बैठे हैं। ठाकुर उत्तर-पूर्वी बरामदे के पश्चिमांश में खड़े हैं। नरेन्द्रनाथ पंचवटी में कुछ नानकपन्थी साधुओं को [illegible] रहे हैं तथा उन्हीं के बारे में बोल रहे हैं। ठाकुर उन सब बातों में न पड़कर [illegible] "तुम सब एक साथ चटाई पर बैठो, मैं देखूँ।" क्या देख रहे हैं ठाकुर? [illegible] रहे हैं अपने अतुल ऐश्वर्य के उत्तराधिकारियों को। ठाकुर आनन्दमग्न होकर देखने लगे। साधना के सम्बन्ध में कहने लगे, "भक्ति ही सार वस्तु है, उनसे प्रेम करने पर विवेक-वैराग्य अपने आप आ जाते हैं।" 'उनसे प्रेम' — इस बात पर ठाकुर

ने खूब जोर दिया है। साधनाकाल में जप, तप, इन्द्रिय-निग्रह आदि सबकी ओर साधक का मन जाता है। ठाकुर कहते हैं — सब प्रकार की साधनाओं में भक्ति ही श्रेष्ठ है। उन पर प्रेम होने से विवेक-वैराग्य को प्राप्त करने के लिए चेष्टा नहीं करनी पड़ती, वे सब अपने आप ही आ जाते हैं। उसके बाद फिर संसार के भोग्य-वस्तुओं के प्रति आकर्षण का अनुभव नहीं होता। बड़े ही स्वाभाविक ढंग से वैराग्य आ जाता है। सब अलोना लगता है, अर्थात् अच्छा नहीं लगता।

साधनाकाल में लगता है कि भक्ति के लिए प्रयास करूँ या पहले विवेक-वैराग्य प्राप्त करना होगा? याद रखना होगा कि विवेक-वैराग्य, जप-तप, प्राणायाम आदि सब उपाय मात्र है, उद्देश्य नहीं। इन उपायों के द्वारा उनके प्रति प्रेम होने में ही उपाय की सार्थकता है। प्रेम न होने पर सब व्यर्थ है। फिर भी ये सब तुच्छ नहीं है, उपाय के रूप में इनका मूल्य है। भागवत में कहा गया है कि जो भगवान की शरण लेता है, उसे भगवान में भक्ति, भगवत्तत्त्व का अनुभव एवं भगवान के अतिरिक्त अन्य विषयों के प्रति वैराग्य हो जाता है।

भक्ति से क्या तात्पर्य है — उपाय या उद्देश्य? इस सम्बन्ध में साधकगण कहते हैं कि भक्ति दो तरह की है — एक है उपाय और दूसरी उद्देश्य। भक्ति ही साधन और साध्य -- दोनों है। जो भक्ति साधन स्वरूप है, उसे वैधीभक्ति कहते हैं अर्थात् जप करना चाहिए, इस विधि से पूजा करनी चाहिए, इत्यादि। यह उपाय या साधन स्वरूप वैधी भक्ति हुई। उद्देश्य है भगवान की भक्ति — वह हुआ साध्य। भगवान के प्रति भक्ति होने पर उपायों की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। ठाकुर के एक दृष्टान्त में है — कुआँ खोदने के लिए फावड़े-कुदाल की आवश्यकता होती है, किन्तु कुआँ खुद जाने के बाद पानी निकल आने पर उनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। कोई कोई उसे फेंक देते हैं और कोई कोई यह सोचकर रख देते हैं कि किसी दूसरे के काम आयेगा।

जपसिद्ध गोपाल की माँ ने ठाकुर से पूछा था कि अब आगे जप करें या नहीं? ठाकुर ने कहा, "अब तुम्हें जप करने की आवश्यकता नहीं है, गोपाल के कल्याण के लिए कर सकती हो।" यह सिद्धि के बाद की अवस्था है। अब जो भक्ति की जाती है, उसके पीछे कोई हेतु नहीं है। यह अहैतुकी भक्ति है। भक्त भगवान को प्राप्त करने के बाद क्या लेकर रहेगा? भगवान को ही लिए रहेगा। यही है पराभक्ति। हम बात बात में अहैतुकी भक्ति की बात करते हैं, वह भक्ति ज्ञान होने के बाद,

भगवान को पा लेने के बाद ही सम्भव है, उसके पहले नहीं। उससे पहले हैं — उन्हें पाने की आकांक्षा। उन्हें पा लेने पर उन्हें पुकारने की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी, तब है अहैतुकी भक्ति।

तन्त्रपथ

इसके बाद नरेन्द्र ने तन्त्र की बात उठाई। उन्होंने सुन रखा है कि तन्त्र में स्त्रियों को लेकर साधना की जाती है। इसी विषय में वे पूछते हैं। उत्तर में ठाकुर कहते हैं, "वह रास्ता ठीक नहीं है, बड़ा कठिन है और इसमें पतन भी बहुत होता है।" तन्त्रमत में वीरभाव, मातृभाव और दासीभाव की साधनाएँ हैं। ठाकुर कहते हैं, "मेरा मातृभाव है।" दासीभाव भी ठीक बताते हैं, किन्तु वीरभाव बहुत कठिन है और सन्तानभाव अत्यन्त शुद्ध है। 'माँ' कहकर पुकारते ही मन शान्त हो जाता है। यद्यपि उन्होंने परीक्षा के लिए सभी भावों से साधना की थी, फिर भी सबको ऐसा करने का विधान वे नहीं देते — यह बात हमें याद रखनी होगी। सब देख लेने का बाद ठाकुर ने यही निर्णय दिया कि मातृभाव ही शुद्धभाव है। मातृभाव उनका अपना भाव है। वीरभाव बहुत कठिन है। उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। समाज में कभी भी खुले रूप से इस भाव का विधान नहीं दिया गया। यह भाव रहस्य-पूजा के अन्तर्गत आता है। साधक स्वयं को शिवरूप में और शक्ति को पत्नीरूप में कल्पना करके साधना करते हैं। इसमें प्रायः ही पतन हो जाता है। तन्त्रों मे यह साधना साधारण साधक के लिए निषिद्ध है। वीर साधकों के लिए ही तन्त्र में वीरभाव की व्यवस्था है, किन्तु ठाकुर के मतानुसार मातृभाव ही शुद्ध तथा श्रेष्ठ है। वीरभाव की साधना में एक है वामाचार पथ। ठाकुर ने उससे दूर रहने के लिए कहा है। एक दिन उनके परिहासप्रिय सन्तानों में से किसी एक ने वामाचारी का वेश धारण किया था। उसे देखकर नरेन्द्र विनोद में बोले, "मैं वामाचारी बनूँगा।" उन्होंने तो हँसी में कहा, पर सुनकर ठाकुर गम्भीर हो गये। वे बड़े सतर्क हैं!

ईश्वर के लिए सब कुछ सम्भव है — इस बात को ठाकुर समझा रहे हैं। यहाँ पर उन्होंने दो योगियों तथा देवर्षि नारद की कहानी बतायी। भगवान सुई के छेद से ऊँट-हाथी को प्रवेश कराते हैं। एक भक्त यह सुनकर कहते हैं कि उनके लिए सब कुछ सम्भव है। हमारे लिए असम्भव हो सकता है, किन्तु उनके लिए सब कुछ सम्भव है। उनके स्वरूप को कोई मुख से नहीं कह सकता।

कोन्नगर से मनमोहन सपरिवार आए हैं, कलकत्ता जाएँगे। ठाकुर कहते हैं, "आज माह का पहला दिन है, कलकत्ता जा रहे हो, क्या जाने क्या हो!" फिर थोड़ा हँसकर उन्होंने दूसरा प्रसंग छेड़ दिया। ठाकुर खुद इन सब पर हँसते और वहम बताते। बृहस्पतिवार को खूब मानते थे। एक बार माँ के बृहस्पतिवार के दिन आने पर उन्होंने उल्टे पाँव लौटा दिया था। सम्भव है उन्होंने माँ की परीक्षा ली हो कि वे बिना प्रतिवाद सब मानती हैं या नहीं।

लोकशिक्षा

नरेन्द्र के ब्राह्म मित्रों से ठाकुर कहते हैं — ध्यान करते समय ईश्वर में डूब जाना चाहिए, केवल पाण्डित्य और भाषण से नहीं होता, विवेक-वैराग्य चाहिए। हृदय मन्दिर में उनकी स्थापना करने की आवश्यकता है। अन्यथा भक्तिहीन, विवेक-वैराग्यहीन गन्दगीपूर्ण मन्दिर में भों-भों करके लेक्चर का शंख फूँकने से क्या होगा? ठाकुर ने बार-बार कहा है — पहले भगवान को पा लो, उसके बाद लेक्चर देना। "पहले माधवप्रतिष्ठा और उसके बाद इच्छा हुई तो वक्तृता, लेक्चर आदि देना।" लोकशिक्षा देने के सम्बन्ध में कहते हैं, "ईश्वरदर्शन के बाद यदि कोई उनका आदेश पाये, तो वह लोगों को शिक्षा दे सकता है।"

किन्तु याद रखना होगा कि लेक्चर देना और भगवच्चर्चा एक ही बात नहीं है। लेक्चर देना अर्थात् मैं जो कहता हूँ, उसे मानकर तुम मेरे बताये हुए मार्ग पर चलो — यह अभिमान की बात है। पर विनम्रतापूर्वक ईश्वर की चर्चा करना अलग बात है। यहाँ पर ठाकुर उन लोगों के बारे में कह रहे हैं, जो यश प्राप्त करने के लिए धर्म पर व्याख्यान देते हैं।

मास्टर को आश्वासन

"विवेक-वैराग्य के बिना भगवान को नहीं पाया जा सकता" — ठाकुर की इस बात को सुनकर मास्टर महाशय व्याकुल हो गये हैं। सोच रहे हैं — "क्या विवेक-वैराग्य का अर्थ कामिनी-कांचन का त्याग है? ठाकुर से पूछते हैं, "यदि पत्नी कहे कि आप मेरी देखभाल नहीं करते, मैं आत्महत्या करूँगी, तो?" ठाकुर गम्भीरतापूर्वक उत्तर देते हैं, "ऐसी स्त्री को त्यागना चाहिए।" ठाकुर के इस विधान को सहन कर पाना साधारण व्यक्ति के लिए कठिन है, इसीलिए मास्टर महाशय दीवार से टेक लगाकर खड़े रहे। नरेन्द्र आदि भक्त भी अवाक् है। इसलिए अवाक् है कि ठाकुर कभी इतनी कठोर बात नहीं कहते थे।

एकाएक मास्टर महाशय के पास आकर ठाकुर उन्हें आश्वस्त करते हुए बोले, "परन्तु जिसकी ईश्वर पर सच्ची भक्ति है, उसके वश में सभी आ जाते हैं — राजा, दुष्ट आदमी, स्त्री — सब।" यदि किसी की भक्ति सच्ची हो, तो स्त्री भी क्रमशः ईश्वर की राह पर जा सकती है। आप अच्छे हुए, तो भगवान की इच्छा से वह भी अच्छी हो सकती है। कहना न होगा कि यहाँ पर ठाकुर का अभिप्राय केवल स्त्री से नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष दोनों के सन्दर्भ में है।

मास्टर महाशय संसार से बड़े भयभीत हैं। ठाकुर बताते हैं कि चैतन्यदेव ने कहा था — संसारी जीवों के लिए कोई उपाय नहीं है।"

किसके लिए उपाय नहीं है? जिसकी ईश्वर में भक्ति नहीं है, वही तो संसारी व्यक्ति हैं। उसके लिए उपाय नहीं है। भगवान को पा लेने के बाद संसार में रहने से भय नहीं है। संसार अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' का बोध। संसारी जीव अर्थात् जो जीव जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़कर बारम्बार आवागमन करता है। भगवान की भक्ति पाये बिना उसकी कोई गति नहीं है। अनासक्त होकर संसार में रहने पर, भगवान को पाकर संसार में रहने पर, फिर भय की कोई बात नहीं हैं।

□

ईश्वराभास

प्रभु तुम जग में जीवन में करते हो क्रीड़ा, कभी हुए आनन्द और फिर बनकर पीड़ा।
पाता हूँ आभास तुम्हारा ही मैं प्रतिपल, तुम्हीं सभी में ओतप्रोत तुम ही हो सम्बल।

धर वसन्त का रूप कभी जीवन में खिलते, और कभी झंझा बन रुद्र रूप में मिलते।
नाम-रूप तुम तरह तरह के धारण करते, और जीव अज्ञानी बनकर तुम्हीं विचरते।

सुख-दुख, यश-अपयश से परिपूरित यह जीवन, इसमें करते बहुविध खेलों का संयोजन।
भला-बुरा है कौन सभी हैं रूप तुम्हारे, अन्त समय सब एक हुए, जीते या हारे।

जड़ तत्वों से रचा हुआ है मेरा तन मन, तुम इसमें करते हो प्राणों का स्पन्दन।
दिखलाओ निज रूप हरो जीवन की व्रीड़ा, करते रहो सतत यूँ ही चिर दिन तक क्रीड़ा।

- महेश प्रसाद जोशी

मानस रोग (२५/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत मानस-रोग प्रकरण पर कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके पचीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

रामचरितमानस में मन के विकारों का वर्णन रोगों के रूप में किया गया है और शरीर के रोगों के साथ उनकी तुलना करते हुए, उनकी चिकित्सा-पद्धति बतलाई गई है। यहाँ पर जिस पंक्ति की चर्चा चल रही है, उसमें कहा गया है कि दूसरों के सुख को देखकर मन में जलन होने लगे, तो समझ लेना चाहिए कि मन का क्षयरोग हो गया है। जब किसी व्यक्ति को क्षयरोग हो जाता है, तब उसकी छाती जलने लगती है। इसी तरह दूसरों का सुख देखकर जब मन में जलन होने लगे, तो गोस्वामीजी उसे मन का क्षयरोग कहते हैं।

शरीर के सन्दर्भ में अगर किसी व्यक्ति को क्षयरोग हो जाय, तो यह आवश्यक नहीं है कि उसे कुष्ट भी हो जाय, किन्तु मन के सन्दर्भ में इस रोग के साथ एक बड़ी विचित्र बात जुड़ी हुई है कि व्यक्ति को अगर मन का क्षयरोग हो जाय, तो साथ ही उसे मन का कुष्ट भी हो जाता है। इसीलिए उन्होंने मन के रोगों का वर्णन करते हुए जिस पंक्ति में मन के क्षयरोग का वर्णन किया है, उसी पंक्ति में मन के कोढ़ का भी वर्णन किया है —

पर सुख देखि जरनि सोइ छई ।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई । ७/१२१/३४

— व्यक्ति के मन में क्षयरोग होने के साथ ही साथ प्रायः यह मन का कुष्टरोग भी हो जाता है। इसका अभिप्राय क्या है? प्रायः देखा जाता है कि जब व्यक्ति के मन में जलन होने लगती है, तब वह चुपचाप बैठकर उसे नहीं सह पाता। वह दूसरों के सुख को नष्ट करने की, दूसरों को कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करने लगता है। दूसरों को कष्ट पहुँचाने की वृत्ति ही वह दुष्टता है, जिसे गोस्वामीजी मन का कोढ़ कहते हैं। वे मन के इस रोग के साथ दो विशेषण भी जोड़ देते हैं — 'कुष्ट दुष्टता मन

कुटिलई' — दुष्टता और कुटिलता ही मन का कुष्ट रोग है। इन दो विशेषणों का प्रयोग मानो इस रोग की जटिलता की ओर ही संकेत करता है। आयुर्वेद में अठारह प्रकार के कुष्टरोगों का वर्णन मिलता है। उनमें से कुछ ऐसे भी कुष्ट हैं, जो गुप्त रहते हैं। शरीर में कुष्ट रोग होता तो है, पर दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में उस रोग से बच पाना या उसका उपचार करना बड़ा कठिन और असाध्य हो जाता है। इसी तरह व्यक्ति के जीवन में दुष्टता यदि प्रत्यक्ष हो, तब तो व्यक्ति उससे बचने की चेष्टा कर सकता है, परन्तु यदि व्यक्ति के बहिरंग व्यवहार में तो दया और परोपकार दिखायी दे, पर उसके पीछे दुष्टता छिपी हुई हो, तब तो वह बड़ा ही घातक और असाध्य हो जाता है।

कुटिलता की इस वृत्ति का परिचायक एक प्रसंग 'किरातार्जुनीयम्' ग्रन्थ में दिख पड़ता है। पाण्डव जब वनवास कर रहे थे, तब दुर्योधन के बारे में प्रजा का मनोभाव जानने के लिए युधिष्ठिर ने एक गुप्तचर भेजा। भीम तथा अर्जुन को पूरा विश्वास था कि प्रजा दुर्योधन के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर विद्रोह करने की मनःस्थिति में होगी। गुप्तचर ने लौटकर सूचना दी कि दुर्योधन प्रजा के साथ बहुत ही अच्छा व्यवहार कर रहा है, तो युधिष्ठिर अपने सरल स्वभाव के कारण बड़े प्रसन्न हुए कि चलो, बड़ी अच्छी बात है कि प्रजा सुखी तो है। परन्तु भीम और अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने दूत के शब्दों पर विचार दिया। दूत ने कहा था — दुर्योधन प्रजा के साथ कुटिलतापूर्वक सद्व्यवहार कर रहे हैं।

सद्व्यवहार अर्थात् जिस व्यवहार के पीछे सद्वृत्ति हो, सद्भाव हो, प्रेम हो। किन्तु जहाँ पर किसी बुरे उद्धेश्य की सिद्धि के लिए सद्व्यवहार किया जा रहा हो, वह क्या सही अर्थो में सद्व्यवहार है? भले ही वह बाहर से सद्व्यवहार सा दिखायी दे, परन्तु जहाँ कपट है, वहाँ तो इस सद्व्यवहार को कपटपूर्ण सद्व्यवहार ही कहना होगा। गुप्तचर का अभिप्राय था कि दुर्योधन को न तो प्रजा के प्रति प्रेम है, न सद्भाव, फिर भी वह प्रजा के प्रति सद्व्यवहार कर रहा है। क्यों? इसलिए कि वह जिस तरह से पाण्डवों को हस्तिनापुर से निकाल देने में सफल हुआ है, उसी तरह से वह उन्हें प्रजा के मन से भी निकाल देना चाहता है। वह चाहता है कि मेरे सद्व्यवहार से प्रजा उन्हें भूल जाय, तदुपरान्त मैं यथेच्छा व्यवहार कर सकूँगा। यह है दुष्टता के साथ कुटिलता। जैसे शरीर के सन्दर्भ में कुष्ट रोग जब गुप्त रहता है या व्यक्ति उसे छिपाये रखता है, तब निकट जाने पर भी पता नहीं चलता कि

कुष्ट रोग है। उसी तरह दुष्टता के कोढ़ के ऊपर जब कुटिलता का आवरण होता है, दुष्टता छिपी रहती है, तब सामनेवाले को पता ही नहीं चल पाता कि यह दुष्ट है और हानि पहुँचा सकता है। इस तरह छिपा हुआ कुष्ट और छिपी हुई दुष्टता — दोनों की ही पहचान कठिन है। दोनों को दूर कर पाना अत्यन्त कठिन है, दोनों असाध्य हैं।

'रामचरितमानस' में इस कुटिल शब्द का प्रयोग कैकेयी और मन्थरा के लिए बारम्बार किया गया है। दुष्टता के साथ कुटिलता का जो सम्बन्ध है, उसका सबसे बड़ा दृष्टान्त मन्थरा है। पूरे रामायण में ऐसा कुटिल पात्र और कोई नहीं है। उसका अन्तःकरण तो असद्‌वृत्तियों से परिपूर्ण है, परन्तु वह बारम्बार सत्य तथा धर्म की दुहाई देती है। रामचरितमानस में सत्य और धर्म की अगर सबसे अधिक प्रशंसा हुई है, तो वह कैकेयी और मन्थरा के मुख से ही हुई ही है। मन्थरा यही जताना चाहती है कि धर्म ही उसके जीवन में सर्वोपरि है और वह धर्म से ही अनुप्राणित होकर यह सब कर रही है। वह धर्म की बड़ी व्यापक व्याख्या करती है।

करइ स्वामि हित सेवकु सोई । २/१८६/६

— स्वामी का हित करना ही सेवक का धर्म है। कहती है — सत्य ही सबसे बड़ा धर्म है, इसलिए मैं सत्य बोलने के लिए बाध्य हूँ। फिर कहती है — न तो मुझे राम से राग है न द्वेष, मैं तो केवल सत्य की रक्षा के लिए कह रही हूँ। मैं सत्यवादी हूँ, सत्य छोड़ नहीं सकती। मैं सत्य और धर्म में प्रतिष्ठित हूँ। धर्म की दृष्टि से मैं सेवक धर्म का निर्वाह कर रही हूँ, स्वामी का हित साधन कर रही हूँ और सत्य बोल रही हूँ। उसने कहा —

खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारें ।
सत्य कहें नहिं दोषु हमारें । २/१६/४

सत्य और धर्म की दुहाई सबसे पहले मन्थरा ने ही दी। वैसे तो रामायण में अन्य प्रसंगों में भी कहा गया है — धर्म न दूसरे सत्य समाना। किन्तु मन्थरा जिस सत्य की दुहाई दे रही है, वह क्या वास्तव में सत्य है? यह बड़े महत्त्व का प्रश्न है। इस पर दो दृष्टियों से विचार करके देखें। पहला प्रश्न तो यह है कि सत्य कल्याणकारी है या अकल्याणकारी? सत्य स्वयं साध्य है या साधन। रामचरितमानस में एक समन्वय का सूत्र दिया गया है और महाभारत में भी भगवान श्रीकृष्ण की वाणी में उसी का सामंजस्य है।

रामचरितमानस में एक प्रसंग में कहा गया है कि सत्य की सबसे बड़ा धर्म है; 'धर्म न दूसर सत्य समाना।' किन्तु एक दूसरे प्रसंग कहा गया कि परहित ही सबसे बड़ा धर्म है —

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।
परपीड़ा सम नहीं अधमाई । ६/४१/१

वैसे तो इन दोनों वाक्यों में भिन्नता दिखायी देती है और स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के मन में प्रश्न उठ सकता है कि इन दोनों में सही कौन सा है? सबसे बड़ा धर्म सत्य है या परहित? महाभारत में भगवान श्रीकृष्ण ने इन दोनों को एक दूसरे का पूरक बताया और रामचरितमानस का दृष्टिकोण भी यही है।

सत्य का एक लक्षण यह है कि वह सदा सबके लिए कल्याणकारी ही होगा। अब वह कौन सी वस्तु है, जिसमें सबका हित है? तो वह वस्तु तो सत्य ही है, जिसमें सबका हित है। बहिरंग दृष्टि से देखने पर भले ही सत्य में असत्य और असत्य में सत्य का भ्रम हो जाय, पर उस भ्रम के निराकरण के लिए कसौटी तो यही है कि वह सबके लिए हितकर और कल्याणकारी है या नहीं? इसलिए ये दोनों वाक्य — 'धरम न दूसर सत्य समाना' और 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' — एक दूसरे के पूरक हैं। जहाँ पर सत्य को लेकर भ्रान्ति हो, वहाँ पर परहित की कसौटी ही उस भ्रम का निवारक है। और जहाँ पर परहित को लेकर भ्रम की स्थिति हो, वहाँ पर यही निर्णय लेना चाहिए कि सत्य में ही सबका कल्याण है।

इस सत्य और हित शब्द को लेकर रामचरितमानस में अनेक बार प्रश्न उठाये गये हैं। महाभारत में इसका और भी अधिक विस्तार है। सत्य क्या है, हित किसमें है, इस प्रश्न को लेकर महाभारत में बड़ा उथल-पुथल मचा है। रामचरितमानस में यह कहकर कि 'धरम न दूसर सत्य समाना' और 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' — एक समन्वय स्थापित किया गया है, मानो दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। किन्तु गोस्वामीजी 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' के साथ यह भी जोड़ देते हैं कि 'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई' — इसका अभिप्राय यह है कि परहित ही सबसे बड़ा धर्म है और वह परहित सत्य के द्वारा ही सम्भव है।

किन्तु उस सत्य का प्रयोग सुखदायक भी हो सकता है और कष्टदायक भी। इसीलिए कहा गया 'सत्यं प्रियहितं च' — सत्य हितकारी के साथ प्रिय भी हो। जैसे किसी व्यक्ति में कोई दोष हो और दूसरा व्यक्ति उसके दोष को दूसरों के सामने

कहता फिरे, यह कहकर कि मैं तो सत्यवादी हूँ, सत्य कहने में डर क्या! इससे दोषी व्यक्ति का कल्याण तो होता नहीं है, अपितु उसे कष्ट ही होता है। यहाँ पर दोषी व्यक्ति का दोष सत्य होते हुए भी, सत्यवादी का सत्य बोलना वास्तव में सत्य है क्या? तो यही कहना पड़ेगा कि यहाँ तो सत्य की अपेक्षा सत्यवादिता का प्रदर्शन ही अधिक है। जिस सत्य में हित की भावना न होकर, केवल उत्पीड़न और अपनी श्रेष्ठता का ही प्रदर्शन हो, वह सत्य-सा दिखाई देते हुए भी यथार्थ सत्य नहीं है। किन्तु जब कोई गुरु अपने शिष्य को उसके दोष दिखाता है, तो वहाँ उद्देश्य हित होता है। प्रयोग भी ऐसा होता है कि उससे शिष्य को कष्ट न हो। यही यथार्थ सत्य है। जैसे वैद्य जब रोगी के दोषों को देखता है, तो उसका उद्देश्य रोगी की निन्दा नहीं, अपितु उसके रोगों को दूर करना होता है। कभी कभी रोगी को कोई दवा सहन नहीं होती, तब उसके लिए वह दूसरी दवा का भी प्रयोग करता है। इसी तरह सत्य की दवा कई लोगों को सहन नहीं हो पाती, तब उसके लिए सत्य को मृदु करके भी प्रयोग किया जाता है। ऐसा नहीं कि अपनी सत्यवादिता के प्रदर्शन के लिए हम दूसरों को संकट में डाल दें। सत्य तो दवा है और उस दवा का प्रयोग इस तरह करना चाहिए कि रोगी व्यक्ति उसे सहन कर सके और स्वस्थ हो जाय। ऐसा न हो कि वह दवा को ही न पचा सके और उल्टी कर दे। जब उल्टी होती है, तब दवा के साथ साथ गन्दगी भी बाहर आ जाती है। सामनेवाले व्यक्ति को जब सत्य से चोट लगती है, तो उल्टी हो जाती है। कैसे? इस प्रकार कि उस सत्य को सुनकर व्यक्ति अनाप-सनाप बकने लगता है और उससे चारों ओर का वातावरण घृणित हो उठता है।

इसलिए सत्य के साथ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सत्य कल्याणकारी होने के साथ साथ मृदु भी होना चाहिए। सत्य कटु न हो, दूसरों के हृदय को चोट पहुँचानेवाला न हो। इसका एक सुन्दर संकेत भगवान शंकर और सती के जीवन में मिलता है। शंकरजी सती से पूछते हैं —

लीन्ह परीक्षा कवन बिधि कहहु सत्य सब बात । १/५५

— सच सच बताओ, तुमने किस तरह से परीक्षा ली? किन्तु सतीजी सच बात नहीं बताती। वे भगवान शंकर से असत्य बोल गयीं। भगवान शंकर तुरन्त मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर लेते हैं —

एहिं तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं ।
सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं । १/५७/२

— जब एक सती का यह शरीर है, तब तक सती को मैं अपनी पत्नी, अपनी प्रिया के रूप में स्वीकार नहीं करूँगा। बड़ी अद्भुत बात है कि भगवान शंकर ने अपने मन में प्रतिज्ञा तो कर ली, पर सती को बताया नहीं। साधना की दृष्टि से यह बड़ी अनोखी बात है। कितनी सजगता है। सती से नहीं कहा कि मैंने तुम्हारा परित्याग कर दिया है। शंकरजी के चरित्र में ऐसी सजगता सर्वत्र मिलेगी। ब्रह्मा की सभा में दक्ष ने शंकरजी का अपमान किया, पर इस घटना को भी उन्होंने सतीजी से कभी नहीं कहा।

जब ब्रह्मा ने दक्ष को प्रजापति का पद दिया और प्रजापति दक्ष सभा में आए, तो सभी लोगों ने खड़े होकर उन्हें सम्मान दिया। वैसे तो दक्ष के लिए यह बड़ी प्रसन्नता की बात थी कि सभा में आने पर वहाँ उपस्थित सभी देव-गन्धर्व, ऋषि-मुनि उनके सम्मान में खड़े हो गये, किन्तु स्वभावजन्य दोष दक्ष में विद्यमान है। यदि यही देखा होता कि इतने लोगों ने खड़े होकर मेरा स्वागत किया, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती, परन्तु उनका स्वभाव तो दुःखग्राही था। वे बड़ी बारीकी से देखने लगे कि कहीं कोई बैठा तो नहीं है। संयोग से उनकी दृष्टि शंकरजी पर पड़ गई। शंकरजी तो अपने आप में डूबे हुए बैठे हैं। इसका अभिप्राय क्या है? शंकरजी हैं साक्षात महाकाल। महाकाल की दृष्टि में कब कौन प्रजापति हुआ और कौन नहीं हुआ, इन सबका क्या महत्त्व है? उनको अपेक्षा भी नहीं है यह सब जानने की। प्रजापति का पद तो आने-जाने वाला पद है, कब किसे यह पद दिया गया, कब किसे अपदस्थ किया गया, इस ओर उनका ध्यान भी नहीं जाता।

लेकिन दक्ष ने इसे शंकरजी की धृष्टता के रूप में देखा। उसने सोचा — मैं प्रजापति हूँ, सबको चाहिए कि सभा की मर्यादा के अनुरूप खड़े होकर मेरा सम्मान करें। जो इस मर्यादा का उल्लंघन करता है, प्रजापति होने के नाते मैं उन पर अनुशासन करूँगा। यह क्या — सभा में आते हैं, पर उसकी मर्यादा भी नहीं जानते, न उसका पालन ही करते हैं? क्या इस तरह नंगे-बदन सभा में आना चाहिए? सब खड़े हो गये, फिर भी आप बैठे हुए हैं। उन्होंने शंकरजी की बड़ी निन्दा की। यह सब कितना अपवित्र है — चिता का भस्म लपेटे और नरमुण्डों की माला पहने हुए सभा में चले आए! बात तो ठीक है, दक्ष जो कुछ कह रहे हैं, वह सत्य तो है। सचमुच शंकरजी के शरीर पर वस्त्र नहीं है, वे नंगे हैं, चिता का भस्म और नरमुण्डों की माला है, किन्तु फिर वही प्रश्न उठता है कि दक्ष का कहना सत्य तो है, पर

उसके मूल में सत्य की वृत्ति है या अपमान से क्षुब्ध होकर प्रतिशोध के लिए शंकरजी की भर्त्सना करने की वृत्ति है? स्पष्ट है कि उन्होंने सत्य के नाम पर अपने अन्तःकरण की ईर्षा-द्वेष का ही वमन किया। वे यही दिखाना चाहते हैं कि वे सत्यवादी तथा मर्यादा का ध्यान रखनेवाले हैं। किन्तु उसके इस सत्य और मर्यादा के पीछे जो सबसे बड़ी असद्वृत्ति है, वह अहंकार और परपीड़न की वृत्ति ही तो है। भगवान शंकर ने दक्ष की बातें सुनीं, आँखें खोलकर देखा और शान्त भाव से मुस्कराते हुए चले गये।

भगवान शंकर कितने गम्भीर हैं, कैलाश लौटकर उन्होंने सतीजी को बिलकुल भी नहीं बताया कि वे उनके पिता से अपमानित होकर आये हैं। सामान्यत, एक तो व्यक्ति अपने अपमान को भूल नहीं पाता और कहीं यह अपमान ससुर के द्वारा किया गया हो, तब तो दामाद सबसे पहले अपनी पत्नी को ही फटकारता है। परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि शंकरजी ने सती से कुछ भी नहीं कहा। आसन पर वे बैठकर गम्भीर समाधि में डूब गये।

परन्तु अन्त में बताना पड़ा। कब? बहुत दिन बाद जब दक्ष में यज्ञ किया और सभी देवता यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए जाने लगे, उस समय सतीजी ने भगवान शंकर से पूछा कि ये सब देवता अपने विमानों पर चढ़कर कहाँ जा रहे हैं? भगवान शंकर ने मुस्कराकर कहा — तुम्हारे पिता के घर यज्ञ हो रहा है, वहीं जा रहे हैं। सतीजी ने कहा — महाराज, आपको निमंत्रण नहीं आया? तब कहीं जाकर शंकरजी को बताना पड़ा कि निमंत्रण क्यों नहीं आया। बता रहे हैं, पर भाषा कितनी संतुलित है। उनके शब्द हैं —

ब्रह्मसभाँ हम सन दुखु माना ।
तेहि तें अजहुँ करहिं अपमाना । १/६२/३

— सती, एक बार सभा में तुम्हारे पिता मुझसे दुःख मान गये; उस दुःख को वे भूल नहीं पा रहे हैं और उसी की प्रतिक्रियास्वरूप आज भी मेरा अपमान कर रहे हैं। कितनी सन्तुलित भाषा है। दक्ष तो सत्य की दुहाई देकर, सत्य का आवरण चढ़ाकर भरी सभा में शिव की निन्दा करते हैं और शिवजी की वृत्ति कितनी शान्त है। इतने दिनों तक कभी भी उस घटना को उन्होंने किसी से भी नहीं कहा, यहीं पर भगवान शंकर और दक्ष की मनोवृत्ति में अन्तर दिखायी देता है।

भगवान शंकर की गम्भीरता तो उस समय भी दिखाई देती है, जब सतीजी

उनसे बिलकुल असत्य बोल जाती हैं। सतीजी ने भगवान राम की परीक्षा ली थी, किन्तु भगवान शंकर के पूछने पर उन्होंने साफ कह दिया कि मैने कोई परीक्षा नहीं ली। भगवान शंकर तो सर्वज्ञ हैं वे जानते हैं कि सती असत्य कह रही हैं। इसकी पहली प्रतिक्रिया तो स्वाभाविक रूप से यही होनी चाहिए थी कि वे सतीजी को फटकारते कि तुम मुझसे झूठ बोल रही हो, किन्तु उन्होंने सतीजी से कुछ भी नहीं कहा, अपितु स्वयं ही अपना कर्तव्य सोचने लगे — सती के जीवन में विकृति आ गई है, ऐसी परिस्थिति में अब मैं क्या करूँ? उन्होंने मन-ही-मन निश्चय किया कि अब सती का परित्याग कर देने में ही मेरा और सती का हित है। हम दोनों के अन्तःकरण का ठीक से निर्माण हो सके, इसके लिए एक लम्बी दूरी उत्पन्न करने की आवश्यकता है। भगवान शंकर का व्यवहार एक चिकित्सक की तरह है।

गोस्वामीजी संकेत देते हैं — देखिए, सत्य कितने रूपों में सामने आता है। बड़ी मधुर बात है कि भगवान शंकर ने तो कुछ नहीं बताया, परन्तु आकाशवाणी नें बड़े जोर-शोर से घोषणा कर दी। सबसे पहले सतीजी ने सुना। आकाशवाणी हुई —

अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना ।
राम भगत समरथ भगवाना । १/५७/५

— ऐसी प्रतिज्ञा आपको छोड़कर और कौन कर सकता है? पढ़कर बड़ा विचित्र लगता है। अगर शंकरजी छिपाना चाहते थे, तो आकाशवाणी को क्या पड़ी थी यह कहने की कि उन्होंने बड़ी अच्छी प्रतिज्ञा की है? यह निर्माण की दुहरी प्रक्रिया है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कुम्हार घड़े का निर्माण करता है, तो घड़े के साथ वह दो परस्पर विरोधी व्यवहार करता है। पहले तो वह मिट्टी में जल डालकर उसे कोमल बनाता है और उस कोमल मिट्टी को घड़े का आकार देता है। लेकिन कोई अगर यह समझ ले कि इतने से ही घड़े का निर्माण हो गया और उसे रस्सी से बाँधकर कुँए में डाल दे, तो वह घड़ा पानी में घुलकर खुद नष्ट हो ही जायगा और साथ ही जल को भी गँदला कर देगा। इसी प्रकार से साधक के निर्माण के लिए भी इन दो प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है। आकाशवाणी क्या है? आकाशवाणी ईश्वरी वाणी है। उसका उद्देश्य क्या है? भगवान शंकर का न बताना तो उनकी कोमलता तथा उदारता का परिचायक है, किन्तु सतीजी के अन्तःकरण में जब तक पश्चात्ताप की अग्नि नहीं जलेगी, तब तक उसके निर्माण की प्रक्रिया

पूरी नहीं होगी। शिवजी की कोमलता का परिचय भी सती को होना चाहिए और साथ ही साथ अपने अपराध की गुरुता का भी। वे जितना ही यह अनुभव करेंगी कि भगवान शिव कितने कोमल हैं, उतना ही उन्हें अपने अपराध की गुरुता का भान होगा। इन दोनों वृत्तियों का सामंजस्य करने के लिए भगवान शिव मौन रह जाते हैं। मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर लेते हैं, लेकिन बताते नहीं। मरन्तु आकाशवाणी का उद्देश्य है कि किसी-न-किसी तरह सती को यह ज्ञात होना ही चाहिए कि उनसे कितनी बड़ी भूल हुई है, ताकि उनके अन्तःकरण में पश्चात्ताप की अग्नि जल उठे और उससे तप्त होकर उनका अन्तःकरण शिव के योग्य बन सके। अन्त में वह उद्देश्य पूरा हुआ। आकाशवाणी सुनकर सती ने भगवान शंकर के सामने हाथ जोड़ लिये। यहाँ पर एक बड़े विनोद की बात यह है कि सतीजी अभी अभी भगवान शंकर से झूठ बोल गयी और अब हाथ जोड़कर पूछ रही हैं —

कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला ।
सत्यधाम प्रभु दीनदयाला । १/५७/७

— आप तो बड़े कृपालु और सत्यवादी हैं, सच सच बताइए, आपने कौन सी प्रतिज्ञा की है? स्वयं झूठ बोलने के बाद भी दूसरे से आशा कर रहे हैं कि वह सच बोले। इस पर भगवान शंकर को हँसी आ गयी। एक शब्द तो था 'कृपासिन्धु' और दूसरा 'सत्यधाम'। भगवान शिव को लगा कि अब तो कृपा और सत्य में विरोध हो रहा है। अगर दोष बता दूँ तो सत्य तो होगा, पर कृपा नहीं होगी और नहीं बताता हूँ, तो कृपा होगी पर सत्य नहीं होगा। किन्तु सत्य का भार तो ले लिया आकाशवाणी ने, किसी न किसी तरह उसने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि सती को अपनी भूल का बोध हो गया। गोस्वामीजी ने कहा कि सती के बारम्बार पूछने पर भी शंकरजी ने नहीं बताया —

जदपि सती पूछा बहु भाँती ।
तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती । १/५७/८

— सती ने कई तरह से घुमा-फिराकर पूछा। पहले सिद्धान्त का आधार लेकर पूछा — महाराज, आप तो सत्यवादी हैं, परमभक्त हैं, आपके जीवन में छिपाने की वृत्ति तो है नहीं, ऐसी स्थिति में आप स्पष्ट बता दीजिए कि आपने क्या प्रतिज्ञा की है? फिर भी शंकरजी ने नहीं बताया, लेकिन यह कार्य आकाशवाणी ने कर दिया। आकाशवाणी सुनकर —

सती हृदय अनुमान किय सबु जानेउ सर्वग्य ।
कीन्ह कपटु मैं संभु सन नारि सहज जड़ अग्य । १/५७/क

— मैं जो झूठ बोल गई, उसे भगवान शंकर समझ गये। किन्तु सतीजी के मन में भगवान शंकर के लिए किस भाव का उदय हुआ? सोचने लगीं कि कितने उदार हैं, कृपासिंधु हैं भगवान शिव! मुझे कष्ट न हो, यह सोचकर मौन रह गये। मेरा दोष होते हुए भी मुझसे नहीं कह रहे हैं कि तुममें यह दोष है। सत्यवादी होते हुए भी अगर सत्य से किसी को कष्ट होता है, तो वे मौन रह जाते हैं। सती को भगवान शिव के कोमल और कृपामय रूप का दर्शन हुआ और यही बात उनके मन में आनी भी चाहिए थी।

कृपासिंधु सिव परम अगाधा ।
प्रगट न कहेउ मोर अपराधा । १/५८/२

— कितने कोमल और कृपालु हैं शिव! मेरे अपराध के कारण उन्होंने स्वयं अपने जीवन में इतना कठोर व्रत ले लिया, पर मुझसे एक शब्द भी नहीं कहा कि तुम असत्यवादी हो। मुझे दुःख न हो इसलिए मौन रह गये। गोस्वामीजी बताते हैं कि तब सतीजी को अपनी भूल पर बड़ा गहरा पश्चाताप हुआ।

इस कोमलता और कठोरता का मनोविज्ञान यह है कि भूल होने पर यदि व्यक्ति को फटकार मिल जाय, तो उसे यह लगता है भूल हुई तो चलो फटकार भी मिल गयी, सजा मिल गयी। उसे अपने भूल पर उतना पश्चाताप नहीं होता। पर सामनेवाला अगर इतना उदार हो, उसका हृदय इतना विशाल हो कि वह दोषी व्यक्ति के अपराध को पी जाय, उसे कुछ न कहे; तो वह भूल करनेवाला व्यक्ति अगर साधक वृत्ति का होगा, तो उसके मन में अत्यधिक ग्लानि उत्पन्न होगी कि अरे, ये इतने उदार तथा महान स्वभाव के हैं और मैंने इनके साथ ऐसा व्यवहार किया। यही पश्चाताप और ग्लानि की वृत्ति सती के अन्तःकरण में उत्पन्न हुई और उस पश्चाताप की अग्नि में तपकर उनके अन्तःकरण में परिपक्वता आती है। गोस्वामीजी कहते हैं —

निज अघ समुझि न कछु कहि जाई ।
तपइ अवाँ इव उर अधिकाई । १/५८/३

— सतीजी का हृदय आँवाँ की तरह जल रहा है। वे पश्चाताप की आग में जल रही है। उनके मन में निरन्तर व्याकुलता बनी हुई है। यहाँ पर आँवाँ शब्द भी बड़ा सार्थक है। जब आग बाहर की ओर जले तो वस्तु बाहर की ओर पकेगी,

पर घड़े को अगर पकाना है तो आग भीतर भी चाहिए। आँवाँ के आँच की विशेषता यह है कि वह बाहर की ओर न जाकर भीतर की ओर जाती है, और इसका अभिप्राय यह है कि पश्चाताप अगर शब्दों में प्रगट हो जाय, तब तो आँच बाहर की ओर चली गई, किन्तु पश्चाताप अगर हृदय को व्याकुल बनाता रहे, तो वह मानो आँवाँ की तरह अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों को परिपक्व बनाता है। सती के अन्तःकरण में इसी तरह के पश्चाताप की वृत्ति प्रगट होती है और आगे चलकर उनका अन्तःकरण जैसा होना चाहिए था, भगवान शंकर का जो उद्देश्य था, वैसा ही होता है। पार्वती के रूप में परिणत होकर उनके जीवन में समग्रता आ जाती है।

भगवान शंकर की दृष्टि इसी बात की ओर है कि सत्य सदा कल्याणकारी होना चाहिए। कितनी सूक्ष्म दृष्टि है उनकी! सतीजी ने पूछा तो उन्हें नहीं बताया, पर जब साथ चले तो समझ गये कि सती पश्चाताप में जल रही हैं। उन्हें बराबर इस बात का ध्यान है कि सती को दुःख न हो। कहने लगे — अच्छा चलो, अब मैं तुम्हें कथा सुनाते हुए चलता हूँ। मानो इसमें भी भगवान शंकर की उदारता ही है। वे सतीजी को फटकार सकते थे कि तुमने कथा नहीं सुनी, इसीलिए दुःख भोग रही हो, किन्तु नहीं। कह रहे हैं — भई, अब तो सुन लो। कुपथ्य किया। पहले दवा नहीं ली। रोग हो गया। अब तो दवा ले लो। गोस्वामीजी ने कहा —

सतिहि ससोच जानि वृषकेतू ।
कहीं कथा सुन्दर सुख हेतू ।
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा ।
बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा । १/५८/५-६

— भगवान शंकर विविध प्रकार की सुन्दर कथा सुनाते चल रहे हैं ताकि सतीजी का मन कथा की ओर लगकर ग्लानि और पश्चाताप से कुछ मुक्त हो, उनका अन्तःकरण शान्त हो, इनका मन भगवान की कथा में डूब जाय। यह वृत्ति है भगवान शंकर की और यही उनकी चरित्र में सत्य और हित का सामंजस्य है। इसी बात को भगवान श्रीकृष्ण सत्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं — जिसमें प्राणी का हित हो, वही सत्य है। जो संघर्ष उत्पन्न करनेवाला तथा प्राणियों के लिए अहितकर हो, वह सत्य नहीं है।

इस तरह से सत्य का एक रूप भगवान शंकर के चरित्र में दिखायी दे रहा है और दूसरा मन्थरा के चरित्र में। मन्थरा दुहाई तो सत्य की दे रही है, पर उस सत्य

में निहित उद्देश्य क्या है? बस झगड़ा लगाना। जैसे एक लकड़ी का टुकड़ा है, शिल्पी उसे चाहे जैसी आकृति दे सकता है। वह चाहे तो उसमें से राम की मूर्ति निकाल दे तो चाहे रावण की, चाहे सुन्दर मूर्ति निकाल दे तो चाहे बन्दर की। इसी तरह सत्य की लकड़ी में से आप कौन सी मूर्ति निकाल रहे हैं, यह तो आप पर निर्भर है। गोस्वामी कहते हैं —

रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु ।
कहिसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु । २/१८

— मन्थरा तो बड़ी निपुण शिल्पी थी। अपनी कला दिखाने के लिए उसने लकड़ी सत्य की ही पकड़ी। उसने कहा कि कैकेयी को यह सूचना नहीं दी गई कि राम को राज्य दिया जा रहा है। उसका कहना तो सच है, किन्तु इस सत्य के पीछे महाराज दशरथ की भावना क्या थी? उनके मन में कोई दुर्भावना तो थी नहीं अपितु उनके मन में तो बड़ी भावुकता भरी वृत्ति थी। उस समय परम्परा यह कि जब कोई दास अथवा दासी कोई सुखद समाचार सुनाते, तो उसे पुरस्कार दिया जाता था। रामायण में भी लिखा हुआ है कि दासियों ने जाकर जब महारानियों को यह समाचार सुनाया तो उन दासियों को कौशल्याजी और सुमित्राजी ने पुरस्कार दिया तथा अन्य लोगों ने भी यह समाचार सुनानेवालों को पुरस्कार दिया। लेकिन यह समाचार कैकेयीजी के पास नहीं पहुँचा। क्यों? स्वयं महाराज दशरथ ने ही दास-दासियों को यह आदेश दिया था कि यह समाचार लेकर कोई भी महारानी कैकेयी के पास न जाय। इसके पीछे महाराज दशरथ का उद्देश्य क्या था? वे बड़े सरल हृदय के थे, उनके अन्तःकरण में कपट की वृत्ति नहीं थी। इतना अवश्य था कि वे कैकेयी के, उनकी सुन्दरता के प्रति बड़े आसक्त थे। साथ ही यह भी जानते थे कि कैकेयी श्रीराम को कितना प्रेम करती हैं। श्रीराम भी कौशल्या की अपेक्षा कैकेयीजी का अधिक सम्मान करते थे। इसीलिए कैकेयीजी महाराज दशरथ से यह कहा भी करती थीं कि अयोध्या का राज्य तो राम को ही मिलना चाहिए। सुनकर महाराज दशरथ गद्गद् हो जाया करते थे और कैकेयी की प्रशंसा करते हुए कहते — कैकेयी, तुम्हारा हृदय कितना विशाल है, तुम कितनी उदार हो!

यद्यपि राम के प्रति कैकेयी का यह प्रेम रजोगुणी प्रेम था। श्रीराम अपनी मं कौशल्या से अधिक प्रेम कैकेयीजी से करते थे, इसलिए कैकेयीजी भी अपने बे भरत से अधिक प्रेम श्रीराम से करती थीं। यह मानो एक आदान-प्रदान का प्रे

था। कैकेयी का रजोगुण इससे सन्तुष्ट होता था कि राम अन्य माताओं की अपेक्षा मुझसे अधिक प्रेम करते हैं, मुझे अधिक सम्मान और महत्त्व देते हैं। इसलिए कैकेयी भी चाहती थीं कि अयोध्या का राज्य राम को ही मिले। किन्तु समस्या तो यही थी। गोस्वामीजी ने एक बड़ी मधुर बात लिखी है। वर्षा हुई तो किसान ने खेत में हल चलाकर उसमें बीज डाला। वर्षा का जल पाकर बीज तो अंकुरित हुआ ही, पर उसके बगल में पड़े हुए घास के बीज भी अंकुरित हो उठे। यद्यपि किसान घास का बीज नहीं डालता, वे तो खेत में पहले से ही पड़े रहते हैं। खेत में धान के पौधे के साथ-साथ घास के पौधे भी निकल आते हैं। अब जो चतुर किसान होता है, वह सावधान हो जाता है, क्योंकि धान का पौधा भी हरा है और घास का पौधा भी। अगर वह खेत में घास के पौधों को बना रहने देगा, तो वह जमीन के खाद और रस को खींच लेगा, घास का पौधा बढ़ता चला जायगा और धान का पौधा कमजोर हो जायगा। इसलिए किसान हाथ में खुरपी लेकर उन घास के पौधों को सावधानी से निकालता है, ताकि धान के पौधे बढ़ें। भगवान राम ने लक्ष्मणजी से कहा कि साधक का यही कर्तव्य है कि वह सद्गुणों की खेती इसी तरह सावधान रहकर करे। भगवान राम कहते हैं —

कृषी निरावहिं चतुर किसाना । ४/१४/८

साधक भी खेत तैयार करता है, साधना की भूमि तैयार करता है, उसमें सद्विचार का बीज डालता है। पौधे निकल आते हैं, लहलहाने लगते हैं। प्रशंसा की वर्षा हुई — वाह, बड़े श्रेष्ठ व्यक्ति है, सज्जन व्यक्ति है। पानी पड़ेगा तो सद्विचारों के पौधे तो निकलेंगे ही, पर बगल में अभिमान का घास भी जरूर निकल आयगा। अभिमान का घास क्या है? यह भाव कि मैं इतना अच्छा हूँ। साधक अगर चतुर होगा, तो अभिमान के घास को काट देगा और सद्गुण को बना रहने देगा। किन्तु कैकेयीजी से यही भूल हो गयी। महाराज दशरथ उनकी प्रशंसा करते हैं कि तुम कितनी महान हो, कितनी उदार हो, अपने बेटे को नहीं, कौशल्या के बेटे का राज्य देने के लिए कह रही हो। कैकेयी का अभिमान इससे बढ़ता गया। सोचने लगीं — सचमुच मुझमें कितनी उदारता है, उतनी उदारता तो किसी के भी हृदय में नहीं होगी। परिणाम क्या होता है। अहंकार की विशेषता यही है कि उसकी भूख बढ़ती ही जाती है। कैकेयी के अन्तःकरण में भी यही हुआ। (शेष आगामी अंक में)

□

प्रेरक - प्रसंग

शरत् चन्द्र पेंढारकर

'विवेक-ज्योति' में 'मानववाटिका के सुरभित पुष्प' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक वर्षों तक प्रकाशित होनेवाली महापुरुषों के जीवन की पाँच सौ से भी अधिक प्रेरणादायी घटनाओं का अभूतपूर्व संकलन। पहले यह ग्रन्थ तीन भागों में प्रकाशित हुआ था और अब उसमें चौथे भाग की अप्रकाशित सामग्री को जोड़कर यह तीसरा अखण्ड संस्करण नयी साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत किया गया है।

डबल डेमी आकार में ३१६ पृष्ठों के
इस संग्रहणीय ग्रन्थ का मूल्य मात्र ४० रुपये
(कीमत अग्रिम भेज देने से डाकव्यय नहीं देना होगा।)

अपनी प्रति के लिए आज ही लिखें -

(१) विवेक-ज्योति कार्यालय
पो० विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२००१ (म. प्र.)
(२) रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर - ४४००१२
(३) अद्वैत आश्रम, ५ दिही एण्टाली रोड़, कलकत्ता - ७०००१४

श्री चैतन्य महाप्रभु - ३२

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। - सं.)

१०. संन्यासी का आदर्श

शास्त्र और आचार्यगण का मत छोड़कर स्वाधीनतापूर्वक धर्मपथ पर अग्रसर होना कठिन है, इसीलिए चैतन्यदेव सर्वदा ही प्राचीन परम्परागत सिद्धान्तों एवं आचार-व्यवहारों के पक्षधर थे। प्रयाग में महाप्रभु से मिलकर और वार्तालाप आदि करके आचार्य वल्लभ भट्ट उनके प्रति विशेष आकृष्ट हुए थे। फिर उनके पुरी-निवास के दिनों में भी एक बार रथयात्रा के अवसर पर भट्टजी वहाँ आये थे। उस समय वल्लभ भट्ट सर्वदा चैतन्यदेव के पास आया-जाया करते और दोनों के बीच काफी समय तक शास्त्र पर तथा ईश्वरीय चर्चा हुआ करती थी। चैतन्यदेव के मुख से भक्ति तथा भगवत्तत्त्व के बारे में उच्च सिद्धान्त सुनकर और रथयात्रा आदि के अवसर पर उनमें प्रेमभक्ति की अद्‌भुत अभिव्यक्ति तथा उनकी अलौकिक भावावस्था देखकर भट्टजी के मन में उनके प्रति बड़ी उच्च धारणा बनी।

अपने अन्तर की इसी धारणा के आधार पर एक दिन बाचचीत के दौरान चैतन्यदेव के समक्ष ही भट्टजी ने उनकी महिमागान आरम्भ कर दी। महाप्रभु की उच्च प्रशंसा करते हुए वे बोले, "वर्तमान काल में एकमात्र आप ही भक्तिमार्ग के पथप्रदर्शक हैं। आपको देखकर ही लोग वास्तविक भगवद्‌भक्ति की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। आपके द्वारा ही जगत् में भक्तियोग का प्रचार सम्भव हो सका है।" भट्टजी द्वारा इस प्रकार का यशोगान चैतन्यदेव को असह्य हो उठा। वे उनकी बात को काटते हुए बोले, "मैं एक मायावादी संन्यासी हूँ और आपकी ऐसी स्तुति के योग्य नहीं हूँ। मैं तो भक्तिमार्ग के विषय में कुछ जानता ही न था। आचार्य अद्वैत के सम्पर्क में आकर ही सर्वप्रथम मेरा मन भक्ति की ओर आकृष्ट हुआ और मैं श्रीवास, मुकुन्द, मुरारी, गदाधर आदि भक्तों के साथ मिलकर भक्तिरस के माधुर्य का आस्वादन कर सका। प्रभुपाद नित्यानन्द के संसर्ग से मुझे भक्ति की गम्भीरता तथा भावराज्य का परिचय मिला। षड्‌दर्शनवेत्ता महापण्डित सार्वभौम ने मुझे

भक्ति-भगवत्तत्त्व की शिक्षा प्रदान की। रसिक-चूड़ामणि रामानन्द राय से रसमार्ग की भजनप्रणाली और प्रेमिक-शिरोमणि स्वरूप से मुझे व्रजगोपिकाओं के कामगन्धहीन शुद्धप्रेम अर्थात् मधुर रस का आस्वादन मिला। फिर प्रतिदिन तीन लाख हरिनाम-कीर्तन करनेवाले भक्तकुलतिलक हरिदास ठाकुर से मुझे नाम-माहात्म्य ज्ञात हुआ।"

चैतन्यदेव के मुख से उनके अन्तरंग पार्षदों की महिमा सुनकर वल्लभाचार्य के मन में विस्मय उपजा। रथयात्रा के दौरान गौड़ीय भक्तों का नृत्य, गीत, संकीर्तन तथा भावावेश देखकर भी उन्हें आनन्द हुआ और अन्य विशिष्ट लोगों के नाम व उनकी महिमा सुनकर वे उन लोगों से भी मिलने को आग्रही हुए। चैतन्यदेव ने क्रमशः सबके साथ उनका परिचय करा दिया। उन लोगों का भी संग पाकर भट्टजी बड़े प्रसन्न हुए। चैतन्यदेव के समान ही उनके पार्षदों में भी अतूल्य त्याग, तपस्या तथा भगवद्भक्ति का परिचय पाकर भट्टजी मुग्ध हो गये और महाप्रभु की अनुमति लेकर एक दिन उन्होंने सबको निमंत्रित करके एक महोत्सव का आयोजन किया। संन्यासी एवं गृहस्थ सबका एकत्र समावेश हुआ और खूब नृत्य, गीत तथा संकीर्तन भी हुआ। भट्टजी ने काफी परिमाण में महाप्रसाद की व्यवस्था की थी। समवेत भक्तों को उन्होंने परम प्रीति और परितोषपूर्वक उत्कृष्ट प्रसाद का भोजन कराया तथा चैतन्यदेव एवं अन्य संन्यासीगण को उन्होंने अपने हाथ से भिक्षा परोसी। इस प्रकार चैतन्यदेव के संग भगवद्भक्ति के माधुर्य का आस्वादन करते कुछ काल परम आनन्दपूर्वक पुरी में निवास के पश्चात् भट्टजी उनसे विदा लेकर स्वस्थान लौट गये।

इसके काफी काल बाद वल्लभाचार्य और भी एक बार रथयात्रा का दर्शन तथा चैतन्यदेव का संगलाभ करने पुरी आये थे। अद्वैतवादी आचार्य श्रीधर स्वामी द्वारा लिखी श्रीमद्भागवत की टीका को ही चैतन्यदेव प्रामाणिक तथा सम्प्रदाय-अनुमोदित मानते थे। जैसे वे स्वयं उस टीका का सम्मान करते वैसे ही वे दूसरों को भी उसी की सहायता से भागवत का तात्पर्य समझने का उपदेश देते। श्रीधर स्वामी भक्तिमार्ग के प्रचारक तथा गीता व भागवत के सुप्रसिद्ध टीकाकार थे। आचार्य शंकर के सिद्धान्त को आधार मानकर व्याख्या करते समय उन्होंने अपनी टीकाओं में सर्वत्र ही निर्गुण अद्वय-तत्त्व की स्थापना की है। भगवत्तत्त्व तथा उपासना का प्रधान ग्रन्थ श्रीमद्भागवत भक्तों के लिए परम आदरणीय है। किन्तु सुन्दर व सुललित होने के बावजूद उसकी कठिन भाषा तथा दुरूह तत्त्वज्ञान सामान्य जन को बोधगम्य नहीं है। इसी कारण परम करुणामय टीकाकार श्रीधर स्वामी ने

सहज-सरल भाषा में उसकी श्रुति-स्मृति सम्मत व्याख्या की है। इसीलिए उनकी टीका सबको बड़ी प्रिय है। वल्लभ भट्ट शांकर अद्वैत के विरोधी थे, अतः उन्हें श्रीधर की टीका पसन्द न थी।

महापण्डित वल्लभाचार्य श्रीधरी टीका का दोष दिखाते हुए स्वयं भी भागवत की एक टीका लिख रहे थे। चैतन्यदेव को अपनी भागवत-व्याख्या सुनाना ही इस बार उनका पुरी आने का उद्देश्य था। इह-परकाल में भोगसुख के लिए सकाम कर्म-उपासना के हेयत्व का प्रतिपादक, अज्ञानाच्छन्न जीव के मोहान्धकार का अपसारक, स्व-स्वरूपावबोधक, परमेश्वर के नित्य-शुद्ध-निर्गुण-निर्विकार तत्त्व और सगुण-साकार भक्तवत्सल रूप व उनके मन्नोहारी लीलाकथाओं से परिपूर्ण परमहंस-संहिता 'श्रीमद्भागवत' परमहंसाग्रणी स्वामी श्रीकृष्णचैतन्य भारती के लिए परमप्रिय वस्तु थी। तत्त्वज्ञान एवं भगवदुपासना के प्रचार व परिपुष्टि के लिए वे इसके पठन-पाठन के बड़े समर्थक थे और स्वयं भी सदा-सर्वदा श्रीधर स्वामी की टीका की सहायता से भक्तों के संग भागवतामृत का पान किया करते थे। वल्लभाचार्य ने चैतन्यदेव को अपनी भागवत-टीका पढ़कर सुनाने का विशेष आग्रह दिखाया, परन्तु यह जानकर कि उसमें श्रीधर की व्याख्या का खण्डन हुआ है, महाप्रभु ने उसमें रुचि नहीं ली। वल्लभाचार्य ने कहा, "मैंने भागवत के श्रीधर स्वामी की टीका का खण्डन किया है, मैं उनकी व्याख्या को स्वीकार नहीं कर सकता।" इस पर चैतन्यदेव नाराज तो हुए, परन्तु हँसते हुए बोले, "जो व्यक्ति श्रीधर स्वामी की व्याख्या को नहीं मानता, उसकी गणिकाओं में गणना होनी चाहिए।" इस पर भी वल्लभ भट्ट माने नहीं और चैतन्यदेव को अपनी टीका सुनाने का बारम्बार हठ करने लगे। परन्तु जब उन्हें किसी भी प्रकार अपने प्रयास में सफलता नहीं मिली, तो हारकर उन्होंने अपना ग्रन्थ भक्तों को ही सुनाने की इच्छा व्यक्त की। जिसे चैतन्यदेव सुनने को अनिच्छुक हों, उसे भला भक्तगण ही क्यों सुनते? किसी के भी उसे सुनने को राजी न होने पर भट्टजी का चित्त बड़ा खिन्न हुआ।

भट्टजी प्रतिदिन चैतन्यदेव का दर्शन करने आया करते थे। उनके तथा उपस्थित भक्तवृन्द के बीच वहाँ भगवत्प्रसंग व तत्त्वचर्चा भी हुआ करती थी। अपना ग्रन्थ सुनाने का सुयोग न मिलने पर भी, चर्चा के दौरान अवसर मिलने पर वे वहीं अपने मत की प्रतिष्ठा व प्रचार करने का प्रयास करते थे। परन्तु महापण्डित तत्त्ववेत्ता चैतन्यदेव एवं उनकी भक्तमण्डली के सम्मुख भट्टजी के युक्ति-तर्क सरिता में तृण के समान बह जाते थे। वल्लभाचार्य को किसी भी प्रकार अपने उद्देश्य में सफलता

नहीं मिली। महाप्रभु के परमप्रिय सखा गदाधर पण्डित श्रीमद्भागवत के विशेष अनुरागी थे और वे प्रतिदिन प्रेम पुलकित चित्त के साथ उक्त ग्रन्थ का पाठ किया करते थे। महापण्डित होकर भी गदाधर बड़े नम्र, विनयी तथा कोमल स्वभाव के थे। किसी विषय में किसी का प्रतिवाद करना अथवा किसी प्रकार किसी के चित्त को आघात पहुँचाना उनके लिए सम्भव न था। निरुपाय होकर वल्लभ भट्ट गदाधर के शरणापन्न हुए और वे भी भट्टजी का आन्तरिक आग्रह देखकर उनकी भागवत-व्याख्या सुनने से इन्कार नहीं कर सके। महाप्रभु गदाधर के हृदय के भाव से पूर्णतः परिचित थे, तथापि उनके साथ विनोद के निमित्त चैतन्यदेव ने इस पर कृत्रिम नाराजगी व्यक्त की। अपना जीवन भले ही चला जाय पर गदाधर कभी भी अपने प्राणाधिक प्रिय चैतन्यदेव की रुचि के विरुद्ध कुछ करना नहीं चाहते थे। दूसरों के सुख से महाप्रभु के कोप की बात सुनकर गदाधर भीत हो उठे और नेत्रों के जल से उनका सीना तर हो गया। वल्लभ भट्ट को विदा करते हुए गदाधर विनयपूर्वक बोले, "आपके साथ मेरा अधिक मिलना-जुलना प्रभु को पसन्द नहीं है।" और कोई उपाय न देख वल्लभ भट्ट ने चैतन्यदेव की शरण ली और सरल हृदय से अपने अन्तर का भाव उनके सम्मुख व्यक्त किया। भट्टजी की दुरवस्था देखकर महाप्रभु का चित्त विगलित हुआ। उन्होंने भट्टजी को विशेष रूप से समझाते हुए कहा, "अपने पाण्डित्य का अहंकार करना अच्छा नहीं है। शास्त्र, सम्प्रदाय तथा प्राचीन आचार्यों के मत का खण्डन करके, अपने पाण्डित्य के बल पर स्वेच्छानुसार शास्त्रों की व्याख्या करने से लोग उसे स्वीकार नहीं करते। श्रीधर स्वामी के अनुसार ही भागवत की व्याख्या करो और भगवद्-भजन में मन लगाओ। इससे स्वयं का और साथ ही दूसरों का भी कल्याण होगा।"

महाप्रभु के संग, सदुपदेश और शिक्षामूलक कठोरता के फलस्वरूप विवेक का उदय होने से वल्लभाचार्य का अन्तर परिवर्तित हुआ। क्षमा प्रार्थना करते हुए उन्होंने महाप्रभु की शरण ली। तदुपरान्त वल्लभ भट्ट ने पहले के समान ही समस्त भक्तों को निमन्त्रण देते हुए पुनः एक दिन महोत्सव का आयोजन किया। महोत्सव के दिन चैतन्यदेव ने गदाधर के साथ परिहास करने के निमित्त उस पहले की घटना के सन्दर्भ में ही नाराजगी व्यक्त की। इस पर गदाधर के मन में विषम त्रासदी का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप उनके भीत और कातर हो जाने पर चैतन्यदेव ने उन्हें अभयदान करते हुए शान्त किया। अब कहीं पण्डितजी की जान-में-जान आयी। वल्लभ भट्ट दिन-पर-दिन चैतन्यदेव की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते गये

और एक दिन उन्होंने दीक्षा पाने की भी अपनी आकांक्षा व्यक्त की। नित्य व्याकुलतापूर्वक याचना करने पर भी महाप्रभु पहले तो उन्हें दीक्षा-दान करने को सहमत नहीं हुए। परन्तु भट्टजी के अतीव आग्रह पर द्रवित होकर बाद में चैतन्यदेव ने उन्हें युगलकिशोर मन्त्र में दीक्षित किया। तब से भट्टजी निष्काम अहैतुकी भक्तिपथ के उपासक होकर भजन में लग गये।

भिन्न सम्प्रदाय के रूप में परिचित होने पर भी वल्लभाचार्य के अनुयायियों में भी गौड़ीय वैष्णवों के समान प्रेमभक्ति का ही प्राधान्य है। वल्लभाचार्य प्रणीत श्रीमद्भागवत की जो टीका उपलब्ध है, उसमें भी जगत्कारण परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण को 'अद्वयतत्त्व' कहा गया है। यह तो हमें अद्वैतवादी, दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासी श्रीकृष्णचैतन्य भारती का ही प्रभाव प्रतीत होता है; क्योंकि वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय के मूल विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के दार्शनिक मत व भजनप्रणाली भिन्न प्रकार के हैं।

उन दिनों देश में संस्कृत भाषा और काव्य-साहित्य की विशेष चर्चा थी। पण्डितगण देवभाषा में काव्य रचकर स्वयं भी आनन्द का अनुभव करते थे और गुणग्राही लोगों को भी सुनाकर उसका रसास्वादन कराते थे। अब भी शास्त्रचर्चा करनेवाले प्राचीन पण्डितों के बीच उस निर्दोष विमल आनन्दोपभोग की प्रथा कुछ कुछ विद्यमान है। चैतन्यदेव स्वयं महापण्डित व तत्त्वदर्शी थे और उनके संगीगण भी उन्हीं के समान थे। इस कारण अनेक रचनाकारों की इच्छा होती कि अपनी कविता, ग्रन्थ आदि उन्हें सुनाकर उसके गुण-दोषों का विवेचन व संशोधन करा लिया जाय और साथ ही आनन्द का भी उपभोग हो। महाप्रभु भी सुविधानुसार उनकी रचानाओं का पाठ तथा श्रवण करके रचनाकारों की मनोकामना पूरी करते थे। केवल पाण्डित्य की सहायता से सुन्दर लालित्यपूर्ण भाषा में रच देने से ही कोई काव्य उत्कृष्ट नहीं हो जाता। यद्यपि कवि का कार्य है — दुरूह तत्त्व अर्थात् सामान्य लोगों की बुद्धि के अगम्य विषय को छन्द की सहायता से सुललित मधुर भाषा में दूसरों के लिए हृदयग्राही बना देना, तथापि उसका प्रतिपाद्य सिद्धान्त शाश्वत सत्य के अविरोधी होना चाहिए। सुमधुर भाषा में अशास्त्रीय व असंगत सिद्धान्तों का प्रचार करने से समाज का और स्वयं का भी अमंगल निश्चित है। इस कारण अज्ञ लेखकों की रचना में अशास्त्रीय, अयौक्तिक कुसिद्धान्तों का श्रवणकर महाप्रभु के चित्त में बड़ी व्यथा होती थी। अतः आखिरकार यह नियम बना दिया गया कि किसी भी नवोदित लेखक की रचना सर्वप्रथम अलंकारशास्त्री धीमान पण्डित दामोदर

स्वरूप पढ़कर देखेंगे और उनका अनुमोदन होने पर ही वह चैतन्यदेव को सुनाया ज सकेगा।

एक बार बंगाल के एक पण्डित अपनी स्वरचित कविता चैतन्यदेव को सुनाने हेतु पुरी आ पहुँचे। अनेक लोगों ने उनका ग्रन्थ पढ़कर उसकी प्रशंसा की। चैतन्यदेव की महिमा के वर्णन में लिखित उनकी कविता पढ़कर बहुत से भक्तों को आनन्द हुआ। कवि के अन्तर में चैतन्यदेव को भी अपनी कविता सुनाने की विशेष इच्छा थी, परन्तु उसे पूर्ण करने का अवसर उन्हें मिला नहीं। चैतन्यदेव के प्रिय भक्त भागवताचार्य के साथ उन कवि महोदय का विशेष परिचय था। भागवताचार्य कवि की आकांक्षा को पूर्ण कराने के निमित्त दामोदर स्वरूप से विशेष अनुरोध करने लगे, क्योंकि दामोदर के अनुमोदन पर ही चैतन्यदेव उसे सुनने को सहमत होते। भागवताचार्य के अनुरोध की उपेक्षा न कर पाने के कारण दामोदर ने सम्मति दे दी और एक निर्दिष्ट तिथि को भक्तमण्डली के सम्मुख उक्त ग्रन्थ के पाठ का आयोजन हुआ। कविवर ने अत्यंत हर्षित-चित्त से पहले मंगलाचरण श्लोक का पाठ किया —

विकचकमलनेत्रे श्रीजगन्नाथ संज्ञा,
कनकरुचिरिहात्मन्यात्मतां यः प्रपन्नः ।
प्रकृतिजड़मशेषं चेतयन्नाविरासीत्,
स दिशतु तव भव्यं कृष्णचैतन्यदेवः ।

दामोदर की अनुमति पाकर कवि ने श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा, "जो पद्मपलाशलोचन श्री जगन्नाथदेव के देही आत्मा के रूप में उनसे अभिन्न हैं और स्वर्ण के समान रूप धारण कर असंख्य जड़ प्रकृत मनुष्यों को चेतना प्रदान कर रहे हैं, वे ही श्री कृष्णचैतन्य मेरा मंगलविधान करें।" श्लोक की भाषा तथा भाव सुनकर वहाँ उपस्थित सभी उसकी उच्च प्रशंसा करने लगे, परन्तु दामोदर स्वरूप के मुखमण्डल पर गम्भीरता छा गयी। वे नाराजगीपूर्वक कवि को उनकी रचना का दोष बताने लगे। दामोदर ने अनेक शास्त्रवाक्यों तथा युक्तियों द्वारा समझा दिया कि 'जीव के समान ईश्वर के लिए देह और आत्मा अलग अलग वस्तुएँ नहीं हैं। ईश्वरतत्त्व में देह-देही का भाव नहीं है। जीव की देह प्राकृत तथा देही चित्स्वरूप (चैतन्य) होता है। परन्तु ईश्वर की देह और स्वरूप एक ही वस्तु चिदानन्द है।' दामोदर की अति सूक्ष्म एवं गहन अर्थपूर्ण तत्त्व की बातें सुनकर सभी लोग विस्मित रह गये। भगवत्तत्त्व के बारे में अपनी अज्ञता समझकर कवि बड़े ही लज्जित हुए।

वे एक महान् अपराधी के समान नतमस्तक होकर चुपचाप बैठे रहे। उनकी दुरवस्था देखकर दामोदर के मन में सहानुभूति का उदय हुआ। उन्होंने सहृदयतापूर्वक कवि को ढाढ़स बँधाते हुए उनके श्लोक को त्रुटिहीन करके अन्य प्रकार से व्याख्या की। दामोदर ने उससे जो अर्थ निकाला, वह इस प्रकार था, "एक अद्वयतत्त्व वस्तु कृष्ण ही — स्थावरब्रह्म जगन्नाथ तथा जंगमब्रह्म श्रीकृष्णचैतन्य — इन दो रूपों में संसारासक्त जड़ बुद्धि मनुष्यों का परित्राण कर रहे हैं।" तदुपरान्त उन्होंने इसका मर्म समझाते हुए कहा, "जगन्नाथ के दर्शन से संसार-चक्र का खण्डन हो जाता है, परन्तु सभी देशों के सब लोग तो उनका दर्शन करने आ नहीं सकते, अतः श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने जंगम-ब्रह्म के रूप में देश-देश में जाकर सभी लोगों का उद्धार किया।" दामोदर का अद्‌भुत् पाण्डित्य एवं व्याख्या-कौशल देखकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए।

फिर स्वरूप दामोदर के साथ चर्चा करके कवि के अन्तर में ज्ञानसंचार हुआ। उन्होंने मन-ही-मन अनुभव किया कि केवल पाण्डित्य के द्वारा तत्त्वज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसके लिए अनुभूति-सम्पन्न तत्त्वद्रष्टा आचार्य की शरण लेना आवश्यक है। स्वरूप की शरण लेने से कवि को क्रमशः चैतन्यदेव की भी कृपा मिली। संन्यासी-चूड़ामणि के सान्निध्य से उनके अन्तर मे प्रबल विवेक-वैराग्य का उदय हुआ। पाण्डित्य और कवित्व की शक्ति से ख्याति पाने की आकांक्षा को छोड़कर उन्होंने साधन-भजन में मनोनियोग किया। अन्त में कविवर सर्वत्यागी होकर नीलाचल में ही चैतन्यदेव के चरणों के समीप निवास करने लगे और उनके उपदेशों पर चलकर भक्तिमार्ग से भगवान की ओर अग्रसर हुए। (क्रमशः)

□
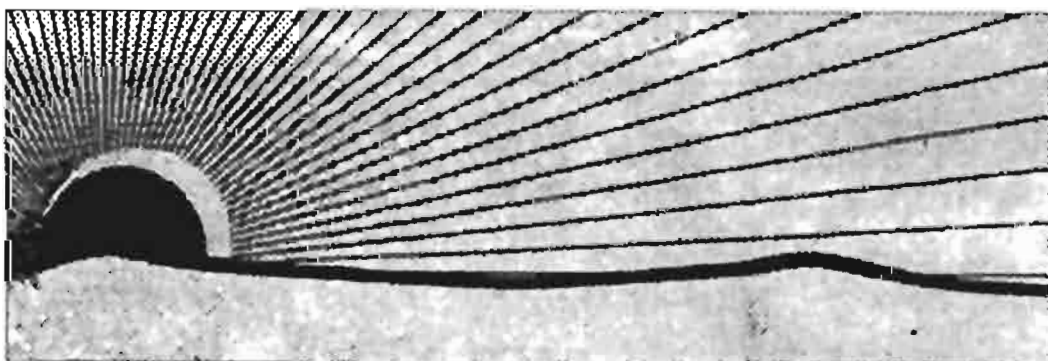
अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
मद्रास - ६००००४

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई० में इस मठ की स्थापना हुई। अगले वर्ष यह अपने बहुमुखी सेवाकार्यों की शताब्दी मनाने जा रहा है। भक्तों एवं अनुरागियों की बहुत दिनों से इच्छा के रूपायन हेतु इस मठ में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर बनाने का कार्य आरम्भ हुआ है। समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण का जीवन तथा सन्देश जैसे वर्तमान युग के सभी धर्मों के अनुयायियों के लिये प्रेरणाकेन्द्र है, वैसे ही उनका यह मन्दिर भी एक सार्वभौमिक उपासना का स्थान होगा।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बन रहे इस मन्दिर में लगभग १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। ग्रैनाइट पत्थर से बननेवाले इस मन्दिर पर लगभग चार करोड़ रुपयों की लागत आयेगी।

रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई० को मन्दिर की आधारशिला रखी। निर्माण-कार्य आरम्भ हो चुका है और सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है।

इस विराट् पुनीत कार्य में समाज के सभी स्तर के लोगों की शुभेच्छा तथा सहयोग की अपेक्षा है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में हाथ बँटाने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत एवं सूचित किया जायगा। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट 'RAMAKRISHNA MATH, MADRAS' के नाम से बनवाकर भेजे जा सकते हैं। ये दान धारा ८०- G के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होंगे।

स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

सम्पर्कसूत्र : श्री रामकृष्ण मठ, मयलापुर, मद्रास-4
Phone : 494 1959; Fax : 493 4589

सांसारिक और आध्यात्मिक कर्त्तव्य (२)

स्वामी यतीश्वरानन्द

(स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष थे। उनका 'Meditation and Spiritual Life' नामक ग्रन्थ साधना-क्षेत्र में पथप्रदर्शन करनेवाली एक अप्रतिम कृति है। उसी के एक अत्यन्त उपयोगी अध्याय का हिन्दी रूपान्तरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, अनुवादक हैं स्वामी ब्रह्मेशानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं। — सं.)

गृहस्थ के कर्तव्य

हिन्दू सामाजिक-व्यवस्था में गृहस्थ को समाज का मुख्य आधार माना गया है। बच्चों को समाज के सामान्य कल्याण और सुरक्षा में योगदान करना सिखाना आवश्यक है। मनुस्मृति (३/७७) में कहा गया है —

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।

— "जिस प्रकार समस्त प्राणी जीवन के लिए वायु पर आश्रित हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं।" लेकिन गृहस्थ का जीवन भोग-विलास के लिए नहीं है। शिष्य उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण के उपदेशों में इस बात पर बारम्बार जोर दिया गया है, "गृहस्थ को सदा याद रखाना चाहिए कि परम श्रेय भोग में नहीं, बल्कि ज्ञानलाभ में हैं, क्योंकि व्यक्ति का जीवन समष्टि का एक अंग है। गृहस्थ धर्म के द्वारा परमात्मा की आराधना करके, भक्त एकान्तिक आध्यात्मिक साधना के लिए वन में जाकर चित्तशुद्धि के लिए प्रयत्न करे।" (भागवत ११/१७/५२-५५) हिन्दू शास्त्रों के अनुसार गृहस्थ के पाँच प्रकार के कर्तव्य हैं : (१) देव पूजा (२) शास्त्राध्ययन (पुरातन ऋषियों के प्रति कर्तव्य (३) अतिथि अभ्यागतों की सेवा-सहायता (४) पितृ-पुरुषों का तर्पण और (५) पशुओं की रक्षा। ये कर्तव्य पंच-महायज्ञ कहलाते हैं। (वृहदारण्यक उपनिषद् १/४/१६ तथा शतपथ ब्राह्मण १/७/२-६) और इन सभी कर्तव्यों का अनिच्छा से बेगार की तरह नहीं, बल्कि सेवा तथा पूजा की भावना से पालन करना चाहिए। इस भावना से कर्तव्यों का पालन करने पर वे बन्धन का कारण नहीं, बल्कि उसके स्थान पर आध्यात्मिक जीवन में सहायक होते हैं। कर्तव्य — सेवा व पूजा का समन्वय — यही वेदान्त

का लक्ष्य है। यदि कोई कर्म आध्यात्मिक जीवन के साथ जोड़ा न जा सके, तो वह कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। यदि लगे कि कोई कर्म तुम्हें भगवान से विमुख कर रहा है, तो उसे मत करो। सभी प्रकार के कर्मो को हमें परमात्मा के निकट से-निकटतर ले जाना चाहिए। जैसा कि श्रीमद्भागवत (११/१८/४४, ४७) में श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं, "जो निरन्तर निष्ठापूर्वक अपने स्वधर्म द्वारा मुझे परम पुरुषार्थ समझकर मेरी आराधना करता है, वह ज्ञान-विज्ञान का अधिकारी हो शीघ्र ही मुझे प्राप्त करता है। मेरी भक्ति से युक्त सभी कर्म मुक्ति प्रदान करते हैं। यही कल्याण का मार्ग है।"

मानव का अपने प्रति कर्तव्य

उपर्युक्त पाँच प्रकार के कर्तव्यों के अतिरिक्त प्रत्येक मानव का अपने प्रति, अपनी आत्मा के प्रति भी कर्तव्य है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा का एक अंश है, अतः अपनी आत्मसत्ता के प्रति कर्तव्य पालन से अन्य सभी दायित्वों का पालन हो जाता है। मानव की आत्मा अभिव्यक्ति और विकास की प्रतीक्षा कर रही है। लेकिन वह निरन्तर क्षुद्र आत्मा या अहंकार द्वारा आवरित हो जा रही है। दैनन्दिन चहल-पहल में, इन्द्रियों के विषमभोगों के पीछे बेहताशा दौड़ने के कारण, मानव अपने भीतर की हल्की क्षीण पुकार की, आत्मा की पुकार की उपेक्षा कर देता है। इसके फलस्वरूप उसके सारे कार्य अन्त में उसके असन्तोष और हताशा के कारण बन जाते हैं। यहाँ तक कि तथाकथित मानव-सेवा भी उसे श्रान्त और असन्तुष्ट ही बनाती है। उच्चतर आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में हमारे समस्त कर्तव्यों का एक समन्वित लक्ष्य अवश्य होना चाहिए। तभी जीवन अर्थपूर्ण हो सकेगा।

मुख्य समस्या यह है कि लोग कठोर साधना के बिना, परमात्मा के हाथ के पवित्र यंत्र बने बिना ही आचार्य बनना चाहते हैं। वे (परमात्मा) मानव देह रूपी मन्दिर में निवास करते हैं। पहले हमें स्वयं भगवान को जानना चाहिए और अपनी समस्याएँ सुलझाने में समर्थ होना चाहिए, तब दूसरों की बारी आयेगी। हम अपने अस्तित्व मात्र से अनजाने ही सत्य को प्रकाशित करते हुए दूसरों की मूक सहायता कर सकते हैं। लेकिन स्वयं कोई आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त किए बिना दूसरों की आध्यात्मिक सहायता करने की बात करना या सोचना बिल्कुल ही हास्यास्पद बात है। सच्ची पवित्रता और अनासक्ति प्राप्त हो जाने पर तुम संसार में लिप्त नहीं होते और संसार तुम्हारे मन और स्नायुओं को प्रभावित नहीं करता और तभी, यह जानकर

कि तुम परमात्मा के हाथों के यन्त्र मात्र हो, तुम दूसरों को सहायता करने की बात सोच सकते हो।

एक और भी बात है, जिसे कर्तव्य समझना चाहिए। विद्यार्थी जीवन के बाद भी थोड़ा बहुत विद्यार्थी का भाव बनाये रखना चाहिये। यदि पठन-पाठन और गहन अध्ययन का अभ्यास छूट जाय, तो यह हमारे मस्तिष्क एवं चिन्तन-शक्ति के विकास के लिए बड़ा खराब है। बहुत से लोग विद्यालयों से निकलने तथा आयु बढ़ने पर चिन्तन की आदत खो बैठते हैं। और यह सचमुच ही बहुत बुरा है। अस्पष्ट, असम्बद्ध चिन्तन जैसा हानिकारक और कुछ भी नहीं है। चिन्तन का अभ्यास न रहने से वे कर्मी मात्र बनकर रह जाते हैं, चिन्तनशील नहीं रहते। दोनों का समन्वय व सन्तुलन रहना चाहिए, अन्यथा परिणाम बहुत बुरा होगा। अधिकांश लोगों के लिए एक अन्तराल के बाद पुनः अध्ययन प्रारम्भ करना बहुत कठिन होता है और जो थोड़े लोग इसमें सफल होते हैं, उन्हें भी चिन्तन का अभ्यास छूट जाने के कारण इसके लिए काफी संघर्ष व तनाव से होकर गुजरना पड़ता है। उनका छिछला तथा हल्का अध्ययन, उनकी ओछी बातचीत, उनकी विचारहीन बाह्य प्रवृत्ति ने उनकी चिन्तन-मनन की शक्ति को काफी हद तक नष्ट कर दिया है। आँखें खोलकर देखने पर हमें आधुनिक जगत पर इसका प्रभाव सहज ही परिलक्षित हो सकेगा।

उच्च आदर्श-विहीन, ऋत तथा सत्य को समझे बिना विचारहीन क्रियाशीलता; कर्म में लगे रहना मात्र है और इस कारण वह विशुद्ध आलस्य से किसी भी प्रकार श्रेष्ठ नहीं, भले ही ऐसे कर्ममय जीवन में लोग गर्व का ही अनुभव क्यों न करें। इतना ही पर्याप्त नहीं कि मैं कुछ करता रहूँ, बल्कि मैं जो कुछ करूँ वह शुभ तथा रचनात्मक हो, न कि ध्वसांत्मक या मानवता को हानि पहुँचानेवाला।

अतः अध्ययन के लिए अधिक समय न मिले, तो भी गहन चिन्तन का अभ्यास प्रतिदिन करना ही चाहिए। हमारा काफी समय व्यर्थ चिन्तन में ही नहीं, बल्कि गलत चिन्तन में गँवाया जाता है, जिसका उपयोग उच्चतर क्रिया या चिन्तन में किया जा सकता है। दिन भर में बहुत-सा खाली समय मिल जाता है, जिसका सहज ही उच्चतर चिन्तन में उपयोग किया जा सकता है। व्यर्थ बिताने के बदले इस समय का हमें उच्चतर चिन्तन में उपयोग करना चाहिए। किसी कोने में खाली बैठे रहने की जगह कुछ उच्चतर और यथार्थ चिन्तन के द्वारा हम ऐसे क्षणों का सदुपयोग

कर सकते हैं। सचमुच ऐसा करने पर हम पायेंगे कि साधना, स्वाध्याय तथा बौद्धिक चिन्तन के लिये हमारे पास पर्याप्त समय है। विचारों को कभी भी लक्ष्यहीन भटकने नहीं देना चाहिये।

प्रायः हम घण्टे भर या आधे घण्टे निर्विचार भाव से बैठे रहते हैं, या फिर कुछ हल्का-फुल्का साहित्य पढ़ते रहते हैं, अथवा कुछ छिछली या फालतू बातें करते रहते हैं। ये क्रियाएँ हम मुर्खों की तरह करते हैं। हम इनमें सुख का भी अनुभव करते हैं। ये हमें अच्छी भी लगती है। लेकिन यदि इसी आधे घण्टे को भक्तिशास्त्र पढ़ने या गहन अध्ययन के रूप में किसी उपयोगी और स्वस्थ ग्रन्थ को पढ़ने में लगाना चाहे, तो हमारा पूरा मन विद्रोह करने लगता है।

बुद्ध की इस प्रसिद्ध युक्ति पर मनन करने से हमें लाभ हो सकता है — "अब, भिक्षुओं तुम्हें याद दिलाता हूँ कि सभी निर्मित वस्तुएँ क्षर हैं, अतः सदा सजग रहो।" यह उपदेश दृश्य जगत की अनित्यता का हमें अनुभव कराकर व्यर्थ के कार्यों तथा अनियंत्रित चिन्तन को दूर करने में हमारी बहुत सहायता करता है। हमें अपने जीवन में नित्य परिवर्तनशील और सदा असंख्य रूप धारण करनेवाले जगत के बदले अपरिवर्तनशील सत्ता को अधिक महत्व देते रहना चाहिए। और मानव का चरम पुरुषार्थ यहीं, इसी जीवन में उस सत्ता का साक्षात्कार करना और तत्पश्चात् दूसरों को उसके साक्षात्कार में मदद करना है।

यदि हम व्यर्थ के बकवासों, अर्थहीन कार्य तथा चिन्तन में नष्ट हो रहे समय का सोच समझकर सदुपयोग करें, तो हमें आवश्यकता से अधिक समय मिलेगा। अभ्यास द्वारा ऐसी गहन विचारशीलता का विकास किया जा सकता है कि जिससे दो घंटे का सामान्य चिन्तन आधे घंटे में ही किया जा सके। दो बातें हैं — मात्रा और गुणवत्ता। यदि तुम मात्रा न बढ़ा सको, तो गुणवत्ता बढ़ाओ — अपने ध्यान तथा स्वाध्याय की गुणवत्ता में वृद्धि करो।

ध्यान, जप और प्रार्थना के लिए समय निकालने के साथ-ही-साथ प्रत्येक व्यक्ति के लिए नियमित स्वाध्याय के लिए भी समय देना आवश्यक है। साधना के बाद कम-से-कम दस मिनट तक उपनिषदों के कुछ चुने हुए अंशों का पाठ करना चाहिए। प्रमाद और आलस्य आध्यात्मिक जीवन की सभी अवस्थाओं में उसके दो महान शत्रु हैं। और बहुत से लोग शारीरिक और मानसिक निष्क्रियता के शिकार हो जाते हैं; जो अत्यधिक घातक हैं। इस प्रमाद के भाव को यदि हम अपने पर हावी होने

दें, तो हमें साधना अथवा स्वाध्याय या अध्ययन के लिए समय बिलकुल नहीं मिलता। ऐसी मनःस्थिति में समय होते हुए भी हमें उसका बोध नहीं होता। हम इतने मूढ हो जाते है कि उसका हमें ध्यान ही नहीं रहता।

इन्द्रिय-संयम हमें गहन चिन्तन तथा तीव्रता के साथ सोद्देश्य जीवन यापन में सहायता करता है। हम सर्वदा इन्द्रिय-विषयों के जगत में ही क्यों विचरण करें? इन्द्रिय-संयम रहने पर चिन्तन के स्तर पर आसानी से रहा जा सकता है। बाह्य जगत से घूँसे व लातें खाने क्यों जाते हो? विक्षेपों के दूर रहने पर हम तीव्रतर चेतनायुक्त जीवन यापन कर सकेंगे, तथा सभी अवस्थाओं में यथासम्भव जाग्रत और सचेत रह सकेंगे। लेकिन प्रायः देखने में आता है कि लोग काष्ठ और पत्थर की तरह अधिकाधिक जड़ और निष्क्रिय होते जाते हैं। बाह्य आकर्षणों और सांसारिक लक्ष्यों की प्रेरणा के हटते ही वे अपनी साधना और स्वाध्याय के लिए धीरे-धीरे थोड़ा समय पाने लगते हैं।

कर्तव्य और आसक्ति

हम अपने कर्म इन कारणों से करते हैं — (१) व्यक्तियों अथवा वस्तुओं की आसक्ति के कारण (२) कर्तव्य बोध से (३) अर्न्तयामी परमात्मा के प्रति भक्ति। प्रायः प्रथम दोनों हेतु एक-दूसरे से मिल जाते हैं। अधिकांश लोग सच्चे कर्तव्य बोध को आसक्ति से अलग नहीं कर पाते। तब कर्तव्य हमारी आसक्तियों की पूर्ति का बहाना बन जाता है। इसीलिए एक विचारक ने कहा है — "कर्तव्य वह दण्ड है, जो अपनी आसक्ति के लिए हमें चुकाना पड़ता है।" आपाततः यह परिभाषा काफी विचित्र और असंतोषजनक प्रतीत होती है, लेकिन इसे एक उच्चतर दृष्टिकोण से समझना चाहिए। बुद्ध, ईसा, रामकृष्ण आदि के लिए कोई भी कर्तव्य नहीं होता। उनके लिए केवल प्रेमपूर्ण सेवा है, कर्तव्य नहीं। उनकी क्रियाओं में कोई बन्धन नहीं होता और न ही उन्हें कोई लाभ या कर्मफल की ही इच्छा होती हैं। सिद्धपुरुष का कोई कर्तव्य और आसक्ति नहीं होती। उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं होता — तस्य कार्यं न विद्यते। (गीता ३/७६) — वे बिना किसी बाध्यता, अहंता-ममता-रहित पूर्ण स्वतंत्रता के साथ प्रेमपूर्ण सेवा करते हैं।

अपने अहंकार के इस छोटे संसार से, अपने देहात्म बोध से, अपने विचारों आदि से आसक्ति अथवा चिपके रहना कर्तव्य नहीं है। और आसक्ति के द्वारा अथवा किसी कामना की पूर्ति के लिए किये गये किसी कार्य को — उसका स्वरूप

चाहे जैसा भी क्यों न हो — हम उसे कर्तव्य की संज्ञा अथवा कर्तव्य का स्थान नहीं दे सकते। ऐसा कर्म आसक्ति तथा हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व से मोह का परिणाम है, न कि स्वतंत्रता और कर्तव्य की उच्च भावना का।

इन्द्रिय-संयम, निःस्वार्थता, प्रेमपूर्ण सेवा, चित्तशुद्धि, चित्त की उपयुक्त एकाग्रता और अपनी समस्त क्षमताओं को उच्चतर दिशा प्रदान करके परमात्मा के हाथ का एक उपयुक्त यंत्र बनाना ही हमारा वास्तविक कर्तव्य है। हम जितने पवित्र होंगे, सर्वव्यापी परमात्मा की उतनी ही श्रेष्ठता और प्रेमपूर्ण सेवा के रूप में अपने कर्म कर सकेंगे, लेकिन हमें यह देखना होगा कि उसमें कहीं आसक्ति न हो। आसक्ति को कभी भी कर्तव्य की संज्ञा नहीं देना चाहिए। चाहे उसे और कुछ भी कह लो। अधिकांश लोग अपने तथाकथित कर्तव्य को, इन्द्रिय-विषयों के प्रति सूक्ष्म अथवा स्थूल लगाव के कारण, व्यक्तियों तथा वस्तुओं की आसक्ति के कारण पूरे करते हैं, लेकिन ये कर्तव्य नहीं है। इस सन्दर्भ में हमें आभासमान कर्तव्य, जो एक तरह का दृढ़मूल अहंकार है, तथा जो वास्तविक कर्तव्य है — इन दोनों के बीच का अन्तर अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

जब तक हम अपने क्षुद्र अहंकार तथा उसकी तुच्छ कामनाओं के प्रति अपने अस्वाभाविक लगाव को, सभी प्रकार के इन्द्रिय-भोगों तथा वस्तुओं के लिए अत्यधिक लालसा को त्यागने के लिये तैयार नहीं होंगे, तब तक हम उच्च धरातल पर नहीं उठ पायेंगे या इस परिभाषा का तात्पर्य नहीं समझ पायेंगे : "कर्तव्य वह हरजाना है, जो हमें आसक्ति के लिए चुकाना पड़ता है।" वस्तुतः जो कुछ हमारी आध्यात्मिक प्रगति में सहायक हो, वहीं कर्तव्य है। यह सभी के लिए सामान्य नियम है। अपनी दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, दूसरों की सहायता करते हुए अथवा परमात्मा की सेवा (आराधना) आदि विभिन्न कर्तव्यों का पालन करते हुए, हमें आध्यात्मिक प्रगति करनी चाहिए। यदि हम आध्यात्मिक प्रगति न कर सकें, तो हमारे कर्तका-बोध अथवा जिस भाव से हम कार्य कर रहे हैं, उसमें कहीं कोई त्रुटि अवश्य होगी।

ऐसे लोग भी हैं जो उपेक्षा का भाव पोषण करने लगते हैं। संभवतः वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के अतिरिक्त अन्य सभी बातों के प्रति उदासीन रहते हैं। अधिकांशतः यह उदासीनता स्वार्थपरता और आलस्य के कारण होती है। यह एक तामसिक अवस्था है, जिसे आध्यात्मिक व्यक्ति की सच्ची अनासक्ति नहीं समझना चाहिए।

ऐसे आलसी तथा मूढ व्यक्ति जीवित से अधिक मृत है। वास्तविक अनासक्ति, सच्चा साक्षीभाव हमें सजग बनाता है, और हमारे द्वारा संकल्पित सभी क्रियाओं को, चाहे वह ध्यान हो या कर्म, को तीव्रता प्रदान करता है।

कर्तव्यों का द्वन्द्व

प्रायः हमें लगता है कि हमारा अमुक कर्तव्य है, लेकिन वह हमारे सामर्थ के बाहर है, वह हमारे लिए बहुत महान है। ऐसे में क्या करना चाहिए? एक कार्यकारी आपात कर्तव्य की सहायता लो, जिसका लक्ष्य के लिए एक चरण के रूप में उपयोग करो। कर्तव्य के लिए कोई निश्चित मापदंड नहीं होता। हमारे विकास के क्रम में कर्तव्य निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। युवक का कर्तव्य बालक के लिए नहीं है। वृद्ध का कर्तव्य युवक के लिए नहीं है। गृहस्थ का कर्तव्य संन्यासी के कर्तव्य से भिन्न है। अतः प्रत्येक के कर्तव्य का निर्धारण पृथक रूप से करना होगा।

कई बार हमारा कर्तव्यबोध हमारी रुचि से मेल नहीं खाता। लेकिन हमें अपने कर्तव्य का अपनी रुचियों के साथ सामंजस्य कराना सिखना होगा और अपने विचारों एवं इच्छाओं के बीच तालमेल भी कराना होगा। इस तरह बहुत-सी अनावश्यक चिन्ताओं तथा संघर्ष से बचा जा सकता है, जो काफी हद तक मानसिक शक्ति के क्षय का कारण हो सकता है।

कभी कभी हम शिकायत करते हैं कि जीवन के कर्तव्यों में व्यस्त होने के कारण हमें साधना के लिए समय नहीं मिलता। प्रायः ऐसी शिकायतें निराधार होती हैं। उच्चतर जीवन के लिए सच्ची, गहरी और आन्तरिक पिपासा होने पर साधना और स्वाध्याय के लिए समयाभाव नहीं होगा। और यदि आन्तरिक व्याकुलता के बावजूद तुम ऐसा न करो, तो अन्त में तुम पूर्ण रूप से असन्तुलित हो जाओगे। आत्मा का थोड़ा स्फुरण होने पर, चेतना का किंचित् जागरण होने पर उसे हर हालत में आहार प्रदान करना होगा, अन्यथा व्यक्तित्व में एक गहरी दरार पड़ जाती है और जीवन में काफी अशान्ति, चंचलता, भारी असन्तोष तथा अस्थिरता आ जाती है। ऐसी स्थिति में अपनी आत्मा को अतृप्त रखने से तुम्हें कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

सम्भव है कि किसी दिन हमें अपनी साधना (ध्यान-जप) थोड़ी जल्दीबाजी में करनी पड़े, फिर किसी अन्य दिन हो सकता है कि हम उसे अधिक आराम तथा एकाग्रता के साथ करें, लेकिन यदि हम उसे बिल्कुल ही छोड़ दें, तो यह विचार

हमें सारे दिन निरन्तर कोसता रहेगा। और हमारे मन में एक भँवर का निर्माण करेगा। चाहे जल्दबाजी में हो या आराम से, साधना को हमें प्रतिदिन काफी लगन के साथ नियमित रूप से, निष्ठापूर्वक करना होगा।

यह कहना गलत है कि हमें साधना तथा स्वाध्याय के लिए समय ही नहीं मिलता। उदाहरण के लिए अगर मैं छह घंटे सोता हूँ, तो मैं दस मिनट कम सो सकता हूँ, पाँच मिनट आहार के समय से और पाँच मिनट किसी और कार्य से निकाल सकता हूँ, इत्यादि। इस प्रकार मुझे साधना और स्वाध्याय के लिये कम-से-कम आधा घंटा मिल ही जाता है। और ऐसा सभी परिस्थितियों में करना होगा — चाहे मन चंचल हो, या एकाग्रता के साथ साधना करना संभव न हो, या साधना यंत्रवत् ही क्यों न करनी पड़े, चाहे समग्र मस्तिष्क साधना या गहन चिन्तन के विचार मात्र से विद्रोह ही क्यों न कर रहा हो। और यह भी कर्तव्य है। क्योंकि दूसरों की सेवा के उद्देश्य से पहले स्वयं की सेवा करने पर मैं उनकी सेवा अधिक दक्षता के साथ और श्रेष्ठतर भावना के साथ कर सकूँगा। सही भावना के साथ, व्यक्तिगतस्वार्थशून्य होकर दूसरों के लिये कर्म करने पर, हम ध्यान भी अच्छा कर सकेंगे और वह पुनः हमें दूसरों के लिये समर्पण भी श्रेष्ठतर भावना एवं भगवत्-शरणागति के भाव के साथ दूसरों के लिये कर्म करने में भी सहायक होगा।

कुछ लोग कर्म करते हुए भी जप करते रहते हैं। मन में अद्भुत क्षमताएँ निहित हैं, हमें बस उसे संयमित और पवित्र करना तथा उन्हें सही दिशा में विकसित करना सीखना होगा। परमात्मा के प्रति स्वयं को बिना शर्त, पूर्ण रूप से समर्पित करके काफी अच्छी तरह कर्म किया जा सकता है। तब एक समय आता है, जब सब कर्म अराधना बन जाते हैं। और उस शरणागति के प्रार्थनामय भाव के रहने पर भी समस्त कर्म अराधना बन जाते हैं। शरणागति और पुरुषार्थ का समन्वय सम्भव है तथा पूर्ण आत्मविस्मृति के साथ सारे कर्म किये जा सकते हैं।

कर्म का उच्चतर लक्ष्य

अधिकांश लोगों के जीवन में उनकी सभी लक्ष्यहीन क्रियाएँ आदर्शरहित तथा बिना किसी उच्चतर उद्देश्य के होती हैं, जिनके बारे में उन्हें कोई स्पष्ट धारणा नहीं होती। वे केवल अस्पष्ट और मेघवत् धुँधले विचारों और इच्छाओं के सागर में मानो दिशाहीन बहते रहते हैं। वे लोग जिसे सामान्यतः कर्तव्य कहते फिरते हैं, वह वस्तुतः आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। अधिकांश लोक आसक्ति और

विषय सुख की लालसा के द्वारा अपने मन को व्यस्त और क्रियाशील बनाये रखते हैं। आसक्ति की धारणा का अनुसरण करते हुए तथा गलत मूल्यों से चिपके रहकर क्रियाशील रहना सदा आसान होता है और प्रायः हम आसक्ति अथवा किसी-न-किसी प्रकार के लोभ के चलते उस क्रिया को अपना कर्तव्य कहते हैं। लेकिन वह कर्तव्य है ही नहीं। वह केवल आसक्ति और इन्द्रिय सुखों की लालसा मात्र है, भले ही हम उसे कर्तव्य की उच्च संज्ञा देकर सन्तोष का अनुभव क्यों न करें। विशुद्ध कर्तव्य में व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आसक्ति या अहंकार का अंश नहीं होना चाहिए। हमें परमात्मा के प्रति पूर्ण शरणागति के भाव से, व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं, बल्कि 'करना है' इसलिए कर्म करना चाहिए।

सामान्यतः लोग अपनी स्थूल तथा सूक्ष्म व्यक्तिगत वासनाओं और इन्द्रियों के दास होकर कर्म करते हैं। लेकिन महापुरुष अपनी अनन्त स्वाधीनता से प्रेरित होकर कर्म करते हैं, न कि आसक्ति अथवा सामान्यतः जिन्हें कर्तव्य समझा जाता है, उसके कारण। वे समस्त कर्म सर्वव्यापी परमात्मा की भक्तिपूर्ण सेवा के रूप में, यह भलिभाँति जानकर करते है कि वे परमात्मा के हाथों के यन्त्र हैं।

हमारी गतिविधियों का हमारी क्षुद्र कामनाओं के परे एक ऐसा लक्ष्य होना चाहिए, जो प्रापणीय हो। हमारी क्रियायें कभी भी लक्ष्यहीन, कर्म के लिए कर्म मात्र नहीं होनी चाहिए। ऐसे बहुत से लोग हैं जो 'कर्मठ' होने का गर्व करते हैं, लेकिन इसका अर्थ इतना ही होता है कि वे चुप नहीं बैठ सकते और उन्हें अपने तथा अपने विचारों के साथ अकेले रहने के भय से सदा कुछ-न-कुछ करते रहना पड़ता है। उनकी असम्बद्ध गतिविधियाँ एक बन्दर की क्रियाशीलता के समान है, जो अत्यन्त सक्रिय तो अवश्य है, लेकिन बिना किसी उद्देश्य के। यह गर्व की बात नहीं है। ऐसे लोग सदा ही भौतिक स्तर पर कुछ-न-कुछ करते, देखते अथवा सुनते रहते हैं और उन्हें यदि इससे रोका जाय, तो वे दुःखी हो जाते हैं। वे बौद्धिक स्तर पर जीवनयापन नहीं कर सकते। अधिकांश लोग आसक्ति और देहात्मबोध से प्रेरित हो, श्रीरामकृष्ण की भाषा में 'काम-कांचन' के लिए कर्म करते हैं। लेकिन यदि कभी उनमें सच्चा कर्तव्यबोध जाग्रत हो, तो वह भी अच्छा है, परन्तु वह भी एक प्रकार का बन्धन ही होगा। इससे भी उच्चतर और श्रेष्ठतर है — पूर्ण शरणागति के भाव से सभी प्राणियों में परमात्मा की भक्तिपूर्ण सेवा करना।

वैसे उच्चतर आदर्श की भी कुछ सीमाएँ हैं — उच्चतर आदर्श पर दृष्टि रखकर

मैं सभी प्रकार के तथाकथित कर्तव्यों तथा कर्मो को बिना विचारे स्वेच्छा से नहीं कर सकता, मैं असत्य भाषण नहीं कर सकता, चोरी नहीं कर सकता। मैं अपवित्र यौन-जीवन यापन नहीं कर सकता। कम-से-कम सचमुच के निष्ठावान और संवेदनशील व्यक्ति तो ऐसा नहीं कर सकते। परन्तु लज्जाहीन व्यक्ति इन सब के साथ साथ ही और भी बहुत-कुछ कर सकता है। अतः यहाँ भी संवेदनशील व्यक्ति की गतिविधियाँ अविवेकी व्यक्ति से अधिक सीमित हैं, लेकिन यह सीमा उच्चतर स्तर ही है। उच्चतर आदर्श को ईमानदारी से स्वीकार करने पर हम पायेंगे कि कुछ तथाकथित कर्तव्य उससे मेल नहीं खाते। और इन सभी का त्याग अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है।

अगर हम कोई समझौता करें, तो हमें यह जानना तथा स्वीकार करना चाहिए कि हम दुर्बल है, लेकिन उसे अपनी दुबर्लता के लिए बहाना नहीं बनाना चाहिए, अथवा उसे कर्तव्य तक की संज्ञा नहीं देनी चाहिए। और यदि कोई समझौता किया जाय, तो यह भविष्य में सभी समझौतों से ऊपर उठने के उद्देश्य से ही किया जाना चाहिए। उसे सही ठहराने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। आदर्श को कभी नीचा नहीं करना चाहिए।

कर्तव्य का प्रश्न अत्यंत जटिल है। अतः गीता में कहा गया है कि बुद्धिमान व्यक्ति भी कर्म और अकर्म के बारे में मोहित है। जैसा पहले कहा जा चुका है — जो हमारी प्रगति में सहायक हो, वह कर्म है और जो हमारी प्रगति में बाधक हो, वह अकर्म है। इसी तरह कहा जा सकता है कि जो हमारे विकास में सहायक हो वह पुण्य है और जो बाधक हो वह पाप है। लेकिन ये बहुत लचीली और व्यापक परिभाषाएँ हैं। प्रत्येक स्थिति का गुणवत्ता के अनुसार निर्धारण किया जाना चाहिए और सदा न्यूनतर का महत्तर के लिए तथा निम्नतर आत्मा का उच्चतर आत्मा — परमात्मा के लिए त्याग किया जाना चाहिए। इस तरह क्रमशः हम उच्च से उच्चतर कर्तव्य-कर्मों के स्तर पर उठते हुए, अन्त में उस लक्ष्य तक पहुँचेंगे, जहाँ सभी कर्म छूट जाते हैं और केवल पूर्ण शरणागति और आत्मविस्मृति के भाव से की गई सर्वभूतों में व्याप्त परमात्मा की भक्तिपूर्ण सेवा ही बच रहती है। यही वह आदर्श है, जिसका सभी महापुरुष प्रतिनिधित्व करते हैं।

दूसरों की आध्यात्मिक सहायता

आध्यात्मिक जीवन में अपनी प्रगति होने पर दूसरों की भी आध्यात्मिक सहायता

करनी चाहिए। लेकिन उतनी ही सहायता करो, जितनी कि तुममें सामर्थ्य है। या फिर जिनकी सहायता करना चाहते हो, उनके लिए प्रार्थना करो। अगर निष्ठापूर्वक हृदय से प्रार्थना करो, तो प्रभु उनके लिए जो उत्तम होगा, करेंगे। तुम उसी मात्रा में दूसरों की सहायता कर सकते हो, जितना कि तुम्हारे इष्टदेव के साथ उनका तादात्म्य है।

अपनी स्वयं की सहायता किये बिना तुम दूसरों की सहायता करने में सफल नहीं हो सकते। अच्छे तैराक होने पर ही, तुम्हें ले जा रही नौका के डूब जाने पर तुम अपने किसी साथी को बचा सकोगे। लेकिन तुम सभी को बचा नहीं सकते और ऐसा प्रयत्न करने पर तुम्हारे सहित ही सभी डूब जायेंगे। अतः विचारपूर्वक निष्पक्ष भाव से पहले अपनी शक्तियों का आकलन करो। उसके बाद अवसर आने पर दूसरों की सहायता करो।

शिव ने संसार की रक्षा के लिए भयंकर विष का पान कर लिया था। उनमें विष से अप्रभावित रहते हुए ही उसे हजम कर लेने की क्षमता थी। पहले शिव के समान महा पवित्रता अर्जित करो, तब तुम संसार का विष दूर कर सकोगे। थोड़ी मात्रा से ही प्रारम्भ करना श्रेयस्कर है। आध्यात्मिक शक्ति तथा पवित्रता में वृद्धि होने पर तुम बिना हानि अधिक मात्रा को हजम कर सकोगे। जितना ही तुम दूसरों के दुखों का अनुभव करोगे और उनकी सहायता करना चाहोगे, उतना ही तुम्हें अनासक्त होना होगा और अपने इष्टदेवता की ओर बढ़ना होगा। अपने और दूसरों के लिए प्रार्थना करो। चाहे कुछ भी हो, प्रभु की सच्ची सन्तान बनना सीखो और प्रभु से उनमें तथा स्वयं में अविचल श्रद्धा के लिए प्रार्थना करो। परमात्मा को अपना सर्वस्व बनाओ, तब तुम्हें कुछ भी प्रभावित नहीं कर सकेगा। अन्तर्यामी परमात्मा के साथ सम्पर्क बनाए रखने पर, तुम जहाँ कहीं भी रहो सदा सुरक्षित रहोगे। पवित्र, एकनिष्ठ और दृढ़ निश्चयवान होओ, तब तुम निश्चित रूप से लक्ष्य को प्राप्त कर लोगे।

□

स्वामी विवेकानन्द का जन्म स्थान

एक अपील

यह एक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की बात है कि स्वामी विवेकानन्द ने कलकत्ते के जिस मकान में जन्म लिया था, उसका जीर्णोद्धार करके, उनके बाल्यकाल की स्मृतियों को एक सुयोग्य स्मारक का रूप दिया जाय। कालान्तर में उनका पैतृक आवास अनेक छोटे-छोटे मकानों में विभाजित हो गया था और उसकी खण्डहरनुमा हालत में आज भी उसमें अनेक किरायेदार परिवारों का निवास है। १९६३ ई. से ही निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप इन मकानों के अधिग्रहण की कानूनी प्रक्रिया में काफी प्रगति हुई है। तथापि वर्तमान किरायेदारों को वैकल्पिक निवास-स्थान उपलब्ध कराने तथा उस स्थान पर एक उपयुक्त विवेकानन्द-स्मारक तथा सांस्कृतिक केन्द्र बनाने के लिए उन टूटे-फूटे भवनों के जीर्णोद्धार की आवश्यकता है। इस कार्य में अब तक हम ९० लाख रुपये खर्च कर चुके हैं, तथापि इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए तत्काल विशाल धनराशि की जरूरत होगी।

अतः स्वामी विवेकानन्द के आप सभी अनुरागियों से हमारी अपील है कि इस महान कार्य में आप उदारतापूर्वक दान करें। उपरोक्त कार्य का उल्लेख करते हुए छोटी या बड़ी सहयोग राशि ''रामकृष्ण मिशन'' के नाम से धनादेश या एकाउन्ट पेयी चेक/ड्राफ्ट के द्वारा हमारे पास भेजी जा सकती है। यह दानराशि आयकर अधिनियम की धारा ८० जी. के अन्तर्गत करमुक्त होगी।

पो. बेलुड मठ
जि. हावड़ा (प. बंगाल)
दि. १२ जनवरी, १९९६ ई.

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव
रामकृष्ण मिशन

नारद - भक्ति - सूत्र में भक्तिदर्शन (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

इष्ट की महानता का ज्ञान

भक्त के हृदय में अपने इष्ट के प्रति महत् बुद्धि होनी चाहिये। मेरे इष्ट साक्षात् भगवान ही हैं, चाहे स्त्री-पुरुष-बालक आदि किसी भी रूप में वे पूजित क्यों न होते हों, वे हैं साक्षात भगवान ही।

नारद अपने भक्तिसूत्र में गोपियों का उदाहरण देते हैं। **यथा व्रजगोपिकानाम्** ।२१। (ना.भ.सू.) — जैसे वृन्दावन की गोपियाँ। गोपियाँ भगवान कृष्ण से प्रेम करती थी, किन्तु क्या वे उन्हें एक सुन्दर पुरुष समझकर उनसे प्रेम करती थीं? नहीं। ऐसा नहीं था। देवर्षि लिखते हैं — **तत्रापि न माहात्म्यज्ञान विस्मृत्यपवादः** ।२२। (ना.भ.सू.) — वहाँ भी (गोपियों के मन में) कृष्ण साक्षात् भगवान है, इस ज्ञान का अपवाद नहीं था — अर्थात् गोपियों को यह स्पष्ट ज्ञान था कि कृष्ण साधारण पुरुष नहीं, साक्षात् नारायण हैं।

यदि गोपियाँ कृष्ण को केवल पुरुष समझकर प्रेम करतीं, तब तो वहाँ परपुरुष गमन हो जाता, जो कि पाप है, व्यभिचार है — **तद्विहीनं जाराणामिव** ।२३। — उसके बिना (कृष्ण को भगवान जाने बिना) वह जारों के प्रेम के समान है। जार का प्रेम स्वार्थप्रेरित होता है। उसमें अपने सुख की, अपने स्वार्थ की इच्छा प्रधान रहती है। अपने सुख के लिये प्रेम किया जाता है, प्रियतम के सुख के लिये नहीं — **नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्** ।२४। — उसमें (जार के प्रेम में) प्रियतम के सुख से सुखी होना नहीं है।

भक्ति का यह विशेष लक्षण है कि भक्त अपना सुख कभी नहीं चाहता। वह वही करता है, जिसमें उसके इष्ट को, प्रियतम को सुख हो। प्रियतम के सुख में ही भक्त अपना सुख मानता है, उसका अपना कोई सुख नहीं होता।

भक्तिप्राप्ति के साधन

भक्ति सूत्रों में भक्तिप्राप्ति के साधनों की भी चर्चा की गई है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि यदि उचित साधनों का निष्ठापूर्वक आचरण किया जाये तो सिद्धि स्वतः प्राप्त हो जाती है। इसीलिये शास्त्रों में साधकों की विशद चर्चा है। देवर्षि

नारद ने अपने भक्ति सूत्र में भक्ति के आचार्यों द्वारा बताये गये कई साधनों की चर्चा की है।

तत्तु विषय त्यागात् सङ्गत्यागाच्च ।३५। — वह (भक्ति) विषय त्याग और आसक्ति त्याग से प्राप्त होती है।

इसका अर्थ है कि सांसारिक विषय भोग और भक्ति कभी साथ-साथ नहीं हो सकते। विषय भोगों को त्यागने पर ही मनुष्य का मन भगवान की ओर जाता है और जब मन भगवान की ओर जाता है, तभी मनुष्य के हृदय में भक्ति जागती है। अतः भक्त को प्रयत्नपूर्वक विषय भोगों का त्याग करना चाहिये।

विषय भोगों के त्याग के साथ-साथ भक्त को संसार संबंधी सभी आसक्तियों का भी त्याग करना पड़ता है। क्योंकि विषयों को त्यागने के पश्चात् भी यदि मन में उनके प्रति आसक्ति बनी रही तो मन भगवान की ओर नहीं जायेगा और इस प्रकार भक्ति प्राप्ति में बाधा उत्पन्न हो जायेगी। अतः विषय और संग दोनों का त्याग आवश्यक है, क्योंकि ये भक्ति प्राप्ति के साधन हैं।

अव्यावृतभजनात् ।३६। — अखण्ड भजन से (भक्ति प्राप्त होती है)।

मनुष्य का मन निरन्तर जिसका भजन करता है, जिसका गुणगान करता है, उसके मन पर उसकी गहरी छाप पड़ जाती है। मन तद्रूप हो जाता है। अतः भगवान का निरंतर भजन करते रहने पर मन के दूसरे सभी विकार दूर हो जाते हैं तथा मन पर भगवान के भाव की दृढ़ छाप पड़ जाती है। भजन के ये दृढ़ संस्कार मन में भगवान के प्रति प्रेम उत्पन्न कर देते हैं, वही प्रेम कालान्तर में भक्ति में परिणत हो जाता है। अतः अखण्ड भजन से भक्ति प्राप्त होती है।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तननात् ।३७। — समाज में भगवान के गुण- श्रवण और कीर्तन से भक्ति प्राप्त होती है।

मानव मन का यह स्वभाव है कि वह बार-बार जिसका गुणगान सुनता है, जिसका कीर्तन करता है, उसका मन उसी रंग में रंग जाता है, उसी भाव से भर जाता है। अतः बार-बार भगवान का गुणवान सुनने तथा उनका नाम-संकीर्तन करने पर मनुष्य का मन भगवद् भाव से भर जाता है। इस प्रकार उसे भक्ति की प्राप्ति होती है।

किन्तु भक्ति प्राप्ति का मुख्य उपाय तो महापुरुषों की कृपा या भगवान की

कृपा का लेश मात्र है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ।३८। — किन्तु मुख्यतया महापुरुषों की कृपा या भगवान की कृपा के लेशमात्र से भक्ति की प्राप्ति होती है।

भक्त को महापुरुषों की कृपा हो जाय तो अन्य किसी और साधन के बिना भी भक्ति की प्राप्ति हो सकती है और यदि भगवान की कृपा का लेशमात्र भी प्राप्त हो जाये तब तो कहना ही क्या है? उनकी कृपा के लेशमात्र से मनुष्य को तत्काल भक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

किन्तु सूत्रों में यह भी कहा गया है कि महापुरुषों का संग अत्यन्त अमोघ तथा अगम्य है। वह भी भगवान की कृपा से ही मिलता है। इतना होने पर भी साधक को प्रयत्नपूर्वक महापुरुषों का संग करना चाहिए, क्योंकि भगवान और उनके भक्तों में कोई भेद नहीं होता। भक्तों का संग भगवान की ही सेवा है। अतः सत्संग की सदैव चेष्टा करनी चाहिए।

भक्तिमार्ग की बाधाएँ

किसी भी आध्यात्मिक मार्ग में चलने के लिए उस मार्ग के साधनों और सुविधाओं को जानना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक उस मार्ग की बाधाओं और कठिनाइयों को जानना भी है। भक्ति-सूत्रों में इसकी भी चर्चा है।

साधक जीवन की सबसे बड़ी बाधा है दुस्संग। दुस्संग साधक के लिये नाव की पेंदी में हुए छेद के समान है। नाव चाहे जितनी मजबूत हो, जितनी सुन्दर हो, उसके पतवार, पाल आदि चाहे जितने अच्छे क्यों न हों, यदि नाव की पेंदी में छेद है तो वह नाव को मंझधार में ले डूबेगी। ठीक उसी प्रकार साधक भक्ति प्राप्ति के चाहे जिन साधनों की साधना क्यों न करता हो यदि वह दुस्संग में पड़ गया तो उसका पतन अवश्य संभावी है। अतः साधक को प्रयत्नपूर्वक दुस्संग का त्याग करना चाहिये। देवर्षि नारद भक्ति सूत्र में लिखते हैं —

दुःसंग सर्वथैव त्याज्यः ।४३। — दुस्संग का सर्वथा ही त्याग करना चाहिये।

मनुष्य में दैवी और आसुरी दोनों ही वृत्तियाँ हैं। संगति और अवसर इन वृत्तियों को प्रबल या दुर्बल कर देता है। यदि मनुष्य कुसंग में पड़ जाता है तो उसकी आसुरी वृत्तियाँ प्रबल होने पर अवसर पा जाती है। पहिले पहल उसे ऐसा लगता है कि एकाध बार किसी निषिद्ध विषय का भोग कर लिया तो उसमें क्या

दोष है? एक लाटरी की टिकट खरीद ली या एक बार जुए का दाव लगा लिया तो उसमें क्या दोष है? किन्तु यदि ये आसुरी वृत्तियाँ प्रारंभ में ही दमित न की गईं, संयमित न की गईं तो फिर बाद में उनको संयत करना असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य हो जाता है। देवर्षि नारद चेतावनी देते हुए लिखते है — **तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति** ।४५। — ये (आसुरी वृत्तियाँ) पहिले तरंग की भाँति आकर भी (दुस्संग से) समुद्र के समान हो जाती हैं। आसुरी वृत्तियों के संबंध में यह बात अक्षरशः सत्य है। छोटे आकार में, छोटी इच्छा के रूप में उठी हुई आसुरी वृत्ति यदि उसके अनुकूल कुसंग पा जाती है तो वह समुद्र के समान विशाल हो जाती है। अतः साधक को तरंग रूप में उठने वाली आसुरी वृत्ति का तत्काल दमन और शमन कर देना चाहिये।

कुसंग के ही समान साधना के मार्ग की दूसरी एक बड़ी बाधा है विषय चर्चा। साधक को संसारी विषय भोगों की चर्चा कदापि नहीं करनी चाहिये। उस चर्चा मन में विषय भोग की इच्छा जागृत होती है। भोगेच्छा विषय कर्मों में लगा देती है और फिर पतन का क्रम प्रारंभ हो जाता है।

देवर्षि नारद तो यहाँ तक कहते हैं कि विषय चर्चा सुननी भी नहीं चाहिये — **स्त्रीधननास्तिकवैरि-चरित्रं न श्रवणीय** ।६३। — स्त्री, धन, नास्तिक और शत्रु का चरित्र नहीं सुनना चाहिये।

साधना-पथ की सूक्ष्म बाधाएँ जो साधक को आध्यात्मिक मार्ग में बढ़ने नहीं देतीं, वे सब आंतरिक बाधाएँ होती है तथा उन्हें साधक को आत्म-निरीक्षण द्वारा खोजना पड़ता है, क्योंकि वे सभी स्वसंवेद्य होती हैं। इन आंतरिक बाधाओं में अभिमान और दम्भ प्रमुख हैं। उनका त्याग किये बिना साधना में प्रगति असंभव है। नारद लिखते हैं — **अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्** ।६४। — अभिमान-दम्भ आदि का त्याग करना चाहिये।

भक्त साधक के जीवन की एक बड़ी बाधा है निरर्थक तर्क और विवाद। अतः भक्त को कभी वाद-विवाद में नहीं उलझना चाहिए। **वादो नावलम्ब्यः** ।७४। — भक्त को वाद-विवाद का अवलम्बन नहीं लेना चाहिये। यह इसलिये कि वाद-विवाद में कुछ निश्चित निर्णय निकलना बहुत कठिन होता है। नारद लिखते है — **बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च** ।७५। — (वाद-विवाद) में बहुलता का स्थान है तथा वह अनियत भी है।

वाद-विवाद का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह भक्त से भजन छुड़वा देता है। कम-से-कम वाद-विवाद के समय तो भजन छूट ही जाता है। इसलिये भक्त को वाद-विवाद में नहीं फँसना चाहिये।

साधना के सूत्र

भक्ति-मार्ग की बाधाओं की चर्चा के साथ-साथ भक्ति-सूत्रों में साधना-पद्धति के सूत्र भी हैं, जिनमें यह बताया गया है कि भक्ति प्राप्ति के लिये क्या-क्या उपाय करना चाहिये? देवर्षि नारद ने चार सूत्रों (४६ से ४९) में विशेष रूप से इसकी चर्चा की है। पहिले प्रश्न उठाया गया है कि माया से कौन तर पाता है? फिर उसके उत्तर में माया से तरने का उपाय बताया गया है।

कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः सङ्गास्त्यजति यो महानुभावं सेवते, यो निर्ममो भवति ।४६। — माया से कौन तरता है, कौन तरता है? जो आसक्तियों को त्याग देता है, जो महानुभावों की सेवा करता है, जो ममतारहित होता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ।४७। — जो निर्जन स्थान में वास करता है, जो लौकिक बंधनों को काट डालता है, तीनों गुणों से परे हो जाता है, जो योगक्षेम का परित्याग कर देता है।

यः कर्मफलं त्यजति कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ।४८। — जो कर्मफल का त्याग करता है, कर्मों का भी त्याग करता है और तब जो निर्द्वन्द्व हो जाता है।

यो वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ।४९। — जो वेदों को भी त्याग देता है तथा (भगवान के प्रति) अखण्ड प्रेम प्राप्त कर लेता है।

वह स्वयं तर जाता है तथा लोगों को भी तार देता है। किसी भी साधना-पद्धति के दो पक्ष होते हैं — एक निषेधात्मक दूसरा विधेयात्मक। क्या नहीं करना चाहिये तथा क्या करनी चाहिये।

आसक्ति भक्त को भगवान से दूर कर देती है। अतः भक्त को सदैव आत्म-निरीक्षण करते हुए देखना चाहिये कि उसकी संसार में कहीं आसक्ति तो नहीं हो रही है? यदि कहीं आसक्ति प्रतीत हो तो भगवान से उसे दूर करने की कातर प्रार्थना कर[illegible] चाहिये।

भक्ति प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है भक्तों और महात्माओं का संग। अतः भक्त को प्रयत्न पूर्वक सत्संग करना चाहिये। उसे यथासंभव भीड़-भाड़ और कोलाहल से दूर

रहना चाहिये। यथासाध्य एकान्त सेवन करना चाहिये। तथाकथित सामाजिक उत्सव, पार्टियों, पिकनिक आदि लौकिक बंधनों को तोड़ देना चाहिये, स्वयं को उनसे मुक्त कर लेना चाहिए। भक्त को सत्व, रज और तम — इन तीनों गुणों में बँधना नहीं चाहिये। इनसे ऊपर उठने का सर्वदा प्रयास करते रहना चाहिये। भगवान से विमुख होने का एक बहुत बड़ा कारण होता है, योगक्षेम की चिन्ता। हमारे पास जो नहीं है, उसे प्राप्त करने की चिन्ता तथा जो है उसकी रक्षा करने की चिन्ता। भक्त को भगवान पर निर्भर रहकर इन दोनों चिन्ताओं से मुक्त हो जाना चाहिये।

भक्त को निर्द्वन्द्व अर्थात् सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि के द्वन्द्वों से मुक्त होना चाहिये। निर्द्वन्द्व होने के लिये भक्त को अपने सभी कर्मो तथा उनके फलों को ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। भगवत् समर्पित बुद्धि से कर्म करने पर ही द्वन्द्वों से मुक्त हुआ जा सकता है। उनसे मुक्त होने का इससे भिन्न कोई दूसरा उपाय नहीं है।

भक्त अपने सभी कर्मो को भगवत् समर्पित कर चुका होता है, अतः उसे लोक-हानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। जो कुछ होता है, वह सब भगवान की इच्छा से होता है, ऐसा समझकर मन को शान्त रखना चाहिये।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदशीलत्वात् ।६१। — (भक्त को) लोक-हानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह स्वयं को लौकिक और वैदिक सभी कर्मों के साथ भगवान को समर्पण कर चुका है।

साधक भक्त अपने सभी कर्मों को भगवान को समर्पित करने का प्रयत्न करता है। किन्तु पूर्व संस्कारों के कारण उसके मन में विकार उत्पन्न होते हैं। अभिमान, काम, लोभादि आते हैं, उस स्थिति में उसे क्या करना चाहिये? यह समस्या सभी साधक के जीवन में आती है। भक्ति सूत्रों में इसका अत्यन्त मनोवैज्ञानिक समाधान दिया गया है। देवर्षि नारद लिखते हैं —

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।६५। — भगवान के प्रति समस्त आचार अर्पण कर चुकने पर भी यदि काम-क्रोध-अभिमान आदि आवे तो उन्हें भी भगवान के प्रति ही करना चाहिये।

एक बार कर्मों को भगवान के प्रति समर्पित करते ही भक्त निर्विकार नहीं हो जाता। उसके पश्चात् भी मन में कामादि विकार आते हैं। उस अवस्था में क्या करें? श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि उनका मोड़ घुमा दो। अब अगर कामना

करनी है तो भगवान की कामना करो। यदि लोभ हो तो भगवान को पाने का लोभ करो। क्रोध ही करना हो तो भगवान पर क्रोध करो कि क्यों अभी दर्शन नहीं देते। इसी प्रकार सभी वृत्तियों को भगवन्मुखी करने का अभ्यास करना होगा। इस प्रकार का अभ्यास करने पर इन वृत्तियों का शोधन हो जायेगा तथा वे भक्ति-प्राप्ति में बाधक न होकर सहायक हो जायेंगी। इस प्रक्रिया में हमें वासनाओं से लड़ना नहीं पड़ता, केवल उनकी दिशा भर बदलनी पड़ती है।

भक्ति भाव को पुष्ट करने के लिये, दृढ़ करने के लिये साधक को भक्तिशास्त्रों का अध्ययन और मनन करना चाहिये। पूजा, जप, कीर्तन, तीर्थाटन आदि भक्ति के उद्‌बोधक कर्म करने चाहिये। भक्ति के भावों को दृढ़ करने लिये ये सब बड़े उपयोगी साधन है। अतः इनका सदैव अभ्यास करना चाहिये।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधक कर्माण्यपि करणीयानि ।७६।

भक्ति के साधक को भक्ति-सूत्रों में कुछ चेतावनियाँ भी दी गई हैं। ये चेतावनियाँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। साधक उपरोक्त प्रकार से साधना करते हुए भक्ति में दृढ़ हो जाय तो भी उसे सावधानीपूर्वक शास्त्रों के आदेशों का पालन करना चाहिये। उनकी मर्यादाओं की रक्षा करनी चाहिये। ऐसा न करने पर पतन होने की पूरी संभावना बनी रहती है। नारद लिखते हैं —

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्र रक्षणम् ।१२। — (भक्ति का) दृढ़ निश्चय हो जाने पर भी शास्त्र की रक्षा करनी चाहिये अर्थात् शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये।

अन्यथा पातित्याशङ्कया ।१३। — अन्यथा (शास्त्रोक्त आचरण न करने पर) पतन हो जाने की आशंका बनी रहती है।

दूसरी महत्वपूर्ण चेतावनी है भक्त को व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिये।

वादो नावलम्ब्यः ।७४। — वाद-विवाद का अवलम्बन नहीं लेना चाहिये।

साधक-जीवन की एक बहुत बड़ी बाधा है वाद-विवाद। साधक को अपने इष्ट, अपनी उपासना-पद्धति, मंत्र, नाम, सदाचार आदि के संबंध में कभी भी वाद-विवाद में नहीं उलझना चाहिये। विवाद श्रद्धा को विचलित कर देता है। मन में व्यर्थ की शंकाएँ उत्पन्न कर देता है।

यद्यपि भक्तिसूत्रों में चेतावनियाँ हैं, निषेधात्मक आदेश हैं, किन्तु विशेष बल विधेयात्मक कर्त्तव्य कर्मों पर ही अधिक दिया गया है —

अहिंसा-सत्य-शौच-दयास्तिक्यादि चारित्र्याणि परिपालनीयानि ।७८। — (भक्त को) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि सदाचारों का भली-भाँति पालन करना चाहिये।

भक्त यदि इन सद्गुणों का आचरण करने का निश्चय कर ले तो भगवान स्वयं उसे इन सद्गुणों के आचरण की शक्ति प्रदान करते हैं। ज्यों-ज्यों वह इन सद्गुणों के पालन करने का अभ्यास करता जाता है, त्यों-त्यों उसमें ये गुण स्वाभाविक रूप में विकसित होने लगते हैं। इन गुणों के विकास में भक्ति का भी हृदय में विकास होने लगता है और भक्ति के हृदय में आते ही ये गुण सहस्र गुणा विकसित होकर भक्त के जीवन में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

भक्ति-प्राप्ति का सहज सरल साधन है सदैव भगवान का भजन करते रहना —

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ।७९। — सब समय सब भावों से भगवान का भजन करना चाहिये।

भजन करने पर भक्त का चित्त तो शुद्ध होता ही है। उससे उसके हृदय में भक्ति आविर्भूत होती है। भगवान का भजन करने पर, उनका कीर्तन करने पर वे भक्त पर शीघ्र ही कृपा करते हैं।

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ।८०। — कीर्तित होने पर भगवान शीघ्र ही प्रकट होते हैं तथा भक्त को अपना अनुभव करा देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं इक भक्ति-सूत्रों में भक्ति का एक सर्वांगीण पूर्ण दर्शन सन्निहित है। इन सूत्रों के अध्ययन और चिन्तन से व्यक्ति अपने जीवन में भक्ति-साधना की अखंड प्रेरणा प्राप्त कर सकता है।
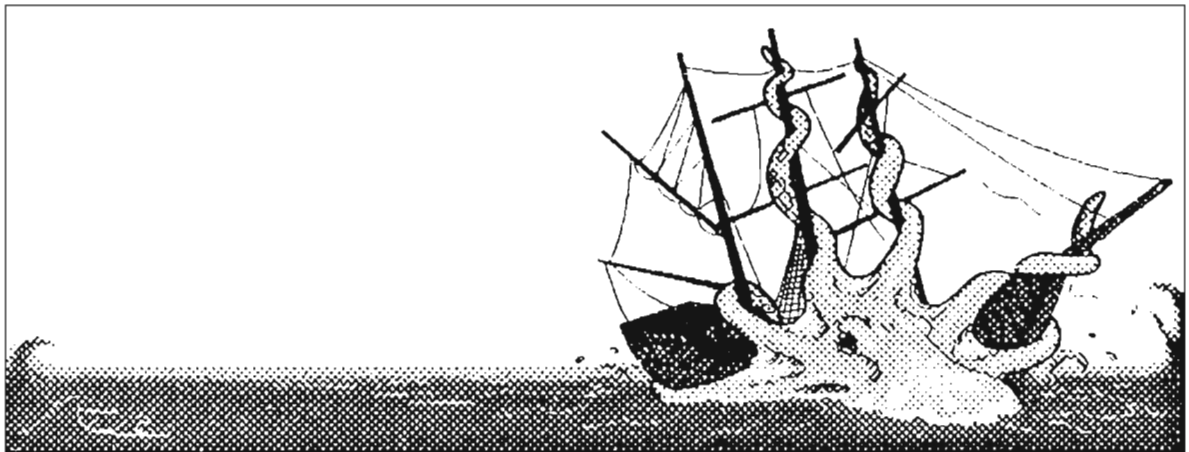
गृहस्थ - धर्म

स्वामी रंगनाथानन्द

[रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज ने ११ अप्रैल १९९२ ई., रामनवमी के दिन छपरा (बिहार) स्थित श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, का समर्पण किया था। उक्त अवसर पर आयोजित त्रिदिवसीय समारोह में १२ अप्रैल, १९९२ को संध्या ६.३० बजे 'गृहस्थ-धर्म' पर उन्होंने जो प्रेरक तथा विचारोत्तेजक व्याख्यान हिन्दी में दिया, उसी का डॉ. केदारनाथ लाभ द्वारा किया हुआ अनुलेखन यहाँ प्रस्तुत है। - सं०]

आज का मेरा विषय है — 'गृहस्थ धर्म'। लोग कहते हैं कि हम तो गृहस्थ हैं। हाँ, ज्यादा लोग गृहस्थ हैं और संन्यासी कम हैं। लेकिन इस राज्य बिहार में एक समय था, जब ज्यादा संन्यासी थे और गृहस्थ लोग कम थे। तब गृहस्थ-धर्म का बड़ा ही घोर पतन हो गया था। इस राज्य का नाम है बिहार। बिहार कहने से मठ-आश्रम आदि का बोध होता है। सो मठों की अधिकता के कारण इसका नाम बिहार हुआ। इसका फल यह हुआ कि पहले तो मठ अच्छे रहे, परन्तु बाद में हर आदमी साधु बनकर बिल्कुल आलसी हो गया। मनुष्य का ऐसा पतन हुआ कि कोई काम करनेवाला नहीं रहा। उस युग में धर्म के सम्बन्ध में बहुत सारी भ्रान्तियाँ थी। लोग सनातन धर्म को नहीं जानते थे। अत: इस युग में गृहस्थों का धर्म पुन: स्थापित करने और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा देवी और स्वामीजी आये। श्रीरामकृष्ण स्वयं गृहस्थ थे, सारदा देवी गृहस्थ थीं। इन दोनों ने गृहस्थ आश्रम की महिमा बढ़ायी। अभी तक हम बड़ी हीन-भावना से ग्रस्त थे। मैं सारे भारत का भ्रमण करता रहा हूँ, सर्वत्र लोग यही कहते हैं — 'हम तो संसारी हैं, हम तो संसारी हैं, हम क्या कर सकते हैं?' ऐसी हीन-भावना इस संसार में गृहस्थ लोग रखते हैं। यह बिल्कुल ही गलत बात है, शास्त्र के विरुद्ध है, और देश की उन्नति के भी प्रतिकूल है। इसी वजह से गृहस्थों को स्वाभिमान, गौरव तथा शक्ति देने के लिए इन अवतारी विभूतियों का आगमन हुआ था। ये अवतार भी गृहस्थी के अन्दर ही आते हैं। सारी दुनिया और सारा समाज भी गृहस्थी पर निर्भर है। इसीलिए आज इसी विषय पर थोड़ा कुछ कहना चाहूँगा।

श्रीरामकृष्ण : गृहस्थ धर्म के पुनर्प्रतिष्ठाता

'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' ग्रन्थ में ऐसे कई अध्याय हैं, जहाँ श्रीरामकृष्ण

गृहस्थ-धर्म के बारे में भक्तों को स्पष्ट शब्दों में उपदेश देते हैं। कोई गृहस्थ श्रीरामकृष्ण से पूछते हैं, "हम लोग गृहस्थ हैं, हम ईश्वर को भला कैसे प्राप्त कर सकते हैं?" उत्तर मिला, "क्यों नहीं प्राप्त कर सकते? ईश्वर सबके भीतर हैं, अन्तर्यामी हैं। तुम लोग उनका स्मरण करो। सब ठीक हो जायगा।" श्रीरामकृष्ण अनेक स्थानों पर ऐसे शब्दों के साथ गृही भक्तों को प्रोत्साहित करते हैं। हमें यह समझ लेना होगा कि गृहस्थ भले ही गृह में स्थित रहकर कार्य करता है, परन्तु गृह में आने-जाने को तुम स्वाधीन हो। इसीलिए गृहस्थी है, नहीं तो घर कारागार हो जायगा। लेकिन घर कारागार नहीं है। गृहस्थी है — स्वाधीनता। स्वाधीनता के बिना घर कारागार-सा हो जायगा। सो, अपने देश में गृहस्थ-जीवन मानो एक कारागार का जीवन हो गया। हमारा मन गृहस्थी के दायरे के बाहर नहीं निकल पाया। केवल एक छोटी-सी परिधि के भीतर हमने अपने को संकुचित कर लिया। विशालता का भाव हमने खो दिया था। हमारा मन बहुत संकीर्ण हो गया और केवल मैं' तथा मेरा' के दायरे में ही केन्द्रित रह गया। श्रीरामकृष्ण कहते हैं — इस 'मैं' और 'मेरा' को हटाना होगा। हमलोग केवल 'मैं' और 'मेरा' ही जानते हैं, और कुछ नहीं जानते। हम नहीं जानते हैं कि इस देश की हालत क्या है, हजारों लोग किस प्रकार भूख और कष्ट का अनुभव करते हैं, इन सबके बारे में हम जानना भी नहीं चाहते। हमने अपने घर को मानो कारागार बनाकर रख दिया था। इसके फलस्वरूप लगभग ८०० वर्षों तक हमारा देश पतित अवस्था में रहा। विदेशी आक्रमण हुए और हमारी स्वतंत्रता चली गयी थी। तब इस युग में श्रीरामकृष्ण के आकर गृहस्थों को एक सच्चा मार्ग दिखाया और उन्हें गौरव प्रदान किया।

गृहस्थाश्रम : ज्येष्ठ आश्रम

मनुस्मृति में एक श्लोक है, जिसे मैं आपको सुनाना चाहूँगा, ताकि आप जानें कि गृहस्थाश्रम का कितना अधिक महत्त्व है। श्लोक इस प्रकार है —

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ।। (३/७७)

सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही ज्येष्ठ है। यह ज्येष्ठ आश्रम इसलिए है कि यही बाकी सभी आश्रमों को अन्न तथा विद्या उपलब्ध कराता है। ब्रह्मचारी कुछ उपार्जन नहीं करता, वानप्रस्थी उपार्जन नहीं करता और संन्यासी भी कुछ अर्जन नहीं करता। समाज में गृहस्थ ही ऐसे हैं, जो अर्जन करते हैं, उत्पादन का कार्य करते हैं, जो

सम्पूर्ण समाज का पोषण करते हैं। एक गृहस्थ इतना महत्त्वपूर्ण काम भी करता है और स्वयं के प्रति हीनता की भावना भी रखता है। उसे अपने कार्य पर गौरव का बोध होना चाहिए। गृहस्थ के बल पर ही यह समाज चलता है। यस्मात् त्रयोपि आश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन च। ज्ञान और अन्न ये दोनों साथ साथ चलते हैं और नित्य चलते हैं। गृहस्थेनैव धार्यन्ते — गृहस्थ ये दोनों कर्म करते हैं। तस्मात् ज्येष्ठाश्रमं गृही — अतएव, सभी आश्रमों से श्रेष्ठ गृहस्थ आश्रम है। अब इस युग में, मनु ने जो कहा है, वह एक नयी भाषा में हमारे सामने आता है। वह है यानी नागरिकता का भाव। नागरिक को केवल अपने घर की ही चिन्ता नहीं होती। उसके मन में सारे देश की उन्नति का भाव रहता है। वह जब कोई कार्य इस भाव से करता है कि उससे देश की उन्नति हो, तभी वह सच्चा गृहस्थ होता है। इसीलिए आज के हर गृहस्थ को नागरिक होना चाहिए। नागरिक होने से मन में विशालता का भा आता है, सभी लोगों की उन्नति का भाव आता है। तब वह सबकी उन्नति के लि प्रयास करता है। इसीलिए सच्चा गृहस्थ एक नागरिक है। नहीं तो वह केवल न के लिए ही गृहस्थ बनकर रह जाता है। संसद हमें २१ वर्ष की आयु में वयस्क मानकर नागरिकता प्रदान करती है — वोट देने के योग्य मानती है। लेकिन र केवल बाहरी अधिकार है। इसके साथ ही आपको अपने अन्दर राष्ट्रीय त सामाजिक उत्तरदायित्व का भाव भी जाग्रत रखना होगा। हमारे मन में सदैव समाज की उन्नति का भाव बना रहे। ऐसा भाव हो कि मैं जो कुछ भी काम क उससे समाज की उन्नति हो। यही है नागरिक का सच्चा स्वभाव।

इस गृहस्थी अर्थात् नागरिकता के भीतर दो मूल्य निहित हैं। एक तो है स्वतंत्रता। आदमी स्वतंत्र है। नागरिक स्वतंत्र है। और दूसरा है — उत्तरदायित्व स्वतंत्रता के साथ-ही-साथ हममें उत्तरदायित्व का भी बोध रहे। नागरिक को अ मन में राष्ट्रीय दायित्व का भाव भी रखना पड़ता है। इन दोनों के एक साथ ज़ पर ही व्यक्ति नागरिक बनता है, सच्चा गृहस्थ बनता है। वर्तमान काल में उ देश में ऐसे लाखों नागरिकों को तैयार करना होगा। श्रीरामकृष्ण इसी के लिए : हैं। वे लोगों में जीने की शक्ति प्रदान करते हैं — अपने भीतर के आत्मचैतन्य विश्वास करने, श्रद्धा रखने को कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने बारम्बार आत्म पर जोर दिया है। वे कहते हैं कि तैंतीस कोटि देव-देवियों के प्रति श्रद्धा रख बावजूद तुम्हारा कुछ नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि तुम्हें अपने आप

श्रद्धा नहीं थी। पहले स्वयं के ऊपर श्रद्धा रखो, उसके बाद देवी-देवताओं पर श्रद्धा लाओ। ऐसा उन्होंने एक भाषण में कहा था। अतः असल गृहस्थ होने के लिए आत्मश्रद्धा तथा आत्मनिर्भरता का भाव आवश्यक हैं। यह भाव हमारे देशवासियों ने खो दिया था। बस एक यही भाव रह गया था – मैं तो गृहस्थ हूँ, मैं तो संसारी हूँ, दुर्बल हूँ। इस भाव को छोड़कर, मन को विशाल बनाकर, देश की उन्नति का भार लेकर चलने का प्रयास हमने नहीं किया। इसी वजह से हमारा ८०० वर्षों का इतिहास बिगड़ गया। अब हमें गृहस्थ होने की ग्लानि का भाव त्यागना होगा। ऐसा भाव रखना होगा कि मैं स्वाधीन भारत का नागरिक हूँ। भारत अब स्वाधीन है। अब यहाँ कोई राजा-महाराजा नहीं हैं। हर नागरिक ही एक राजा है। यहाँ प्रजातंत्र का शासन है और प्रजातंत्र में नागरिकता ही सर्वोच्च है। अतः हमारे ऊपर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है, पृथ्वी से उपग्रह छोड़ने और संविधान को स्वीकार करने के बाद से हम पर जिम्मेदारी भी बढ़ी है। हम लोग यह भूल गये थे कि हमारे ऊपर राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है। हम छोटे छोटे गृहस्थ बन गये थे, कारागार में रहनेवाले गृहस्थ बन गये थे। केवल 'मैं' तथा 'मेरा' – इसी की उन्नति में लगे थे। बाकी सब कुछ भूल गये थे। इसे छोड़ना होगा। रामकृष्ण- विवेकानन्द साहित्य पढ़ने पर हम देखेंगे कि मन्दिर में पूजा करना और गरीबों की सेवा करना दोनों ही समान हैं।

आप स्वयं तो मन्दिर में भी पूजा करने नहीं जाते। बस पुजारी को चारःआने देकर उससे पूजा करवा लेते हैं। इतने से ही हमारा काम हो जाता है। हमारे धर्म की यही अवस्था हो गयी है। पिछले ८०० वर्षों से यही प्रवृत्ति चली आ रही है। इसी कारण क्रमशः हम अधोगति को प्राप्त हुए और हमारा पतन हुआ। अब हम लोग पुनः ऊपर उठने का प्रयास कर रहे हैं। हममें नवीन भाव का उन्मेष हो रहा है। जब स्वामी विवेकानन्द ने परिव्राजक के रूप में भारत का भ्रमण किया, देश की दुर्दशा देखी, तो सर्वप्रथम यही प्रश्न उनके मन में उठा कि हमारे ग्रन्थों में, शास्त्रों में जिस भारत का वर्णन है, वह भारत तो बड़ा गौरवशाली था, परन्तु वर्तमान भारत की अवस्था अत्यन्त दयनीय दीख पड़ती है?

स्वामी विवेकानन्द ने सौ वर्ष पूर्व यह भ्रमण किया था – यह जानने के लिए किया था कि सम्पूर्ण भारत में लोगों की कैसी अवस्था है। इसके पहले किसी भी धार्मिक आचार्य या राजनैतिक नेता ने ऐसा भ्रमण नहीं किया था। स्वामीजी ने ही

पहली बार ऐसा किया। उन्होंने देखा कि आम जनता अत्यन्त निर्धन, असहाय तथा पीड़ित है और उच्च व धनीवर्ग के लोग उन्हें नीचे दबाकर रखते हैं। ऐसा है हमारा भारत और यह तो नरक के समान हैं। स्वामीजी ने पूछा, "हमारे देश में इतने लोग गरीब क्यों हुए? हमारे दर्शन में कोई त्रुटि है या फिर हमारे आचरण में कोई दोष है, जिसके कारण ऐसा हुआ है।" ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर इस देश में हमको पहली बार मिला, स्वामी विवेकानन्द के द्वारा। वे संन्यासी थे। उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया था, तो भी उनके हृदय में देशप्रेम की आग प्रज्वलित हो रही थी। देश की दशा देखकर उनकी आँखों से अश्रु प्रवाहित होने लगे और वे अश्रपूरित नेत्रों के साथ कन्याकुमारी में ध्यान करने बैठ गये। उनके चित्त में एक ही प्रश्न उमड़-घुमड़ रहा था — कैसे इस देश की समस्या का समाधान किया जाय। उन्हें लगा कि हम लोग मनुष्य के महत्त्व को भूल गये हैं। पूरे देश में मनुष्य के महत्त्व को बिसार दिया गया है। ऊपरवाले और नीचेवाले, दोनों ही भूल गये हैं कि मनुष्य का कितना महत्त्व है। इस देश का उद्धार ही वहाँ स्वामी विवेकानन्द के ध्यान का विषय था। उन्हें समाधान मिला कि लोगों के भीतर साहस तथा आत्मश्रद्धा का भाव हो, तभी उनका उद्धार हो सकेगा। लोगों को कार्य करने की कला सीखनी होगी, एक साथ मिलजुलकर काम करने की कला सीखनी होगी। हम जो हर समय झगड़े-टंटों में लगे रहते हैं। ग्राम-पंचायत हो या नगरपालिका, हर जगह केवल झगड़ा-लड़ाई ही चलती रहती है। स्वाधीनता के चालीस साल बाद आज भी यही स्थिति है। हम दो लोग एक साथ मिलकर काम नहीं कर सकते। परन्तु कोई भी बड़ा काम एक अकेला आदमी नहीं सम्पन्न कर सकता। एक साथ काम करने के लिए चरित्रबल की आवश्यकता है। चरित्रबल का आज हममें अभाव है। इसी कारण हमारे भीतर केवल 'मैं' का साम्राज्य है। 'तुम' के लिए हमारे मन में कोई स्थान नहीं। इसी वजह से हम एक साथ काम करना नहीं सीख सके हैं। परन्तु अब हमें यह सीखना पड़ेगा। तभी हम अपनी आर्थिक और सामाजिक अवस्था को सुधार सकते हैं। एक साथ काम करने से विद्या का प्रसार होगा, नारीजाति का उद्धार होगा। कन्याकुमारी के ध्यान में स्वामीजी ने यही चिन्तन किया और अमेरिका से भी उन्होंने इसी आशय के पत्र लिखे।

स्वामी विवेकानन्द की पत्रावली पढ़ने से हमारे देश के युवक-युवतियों को एक नयी प्रेरणा मिलेगी। अद्‌भुत हैं स्वामी विवेकानन्द के ये पत्र! वे हमें बारम्बार

धिक्कारते हुए कहते हैं — तुम लोग क्या कर रहे हो? हमारे देश में इतने लोग अपढ़ है। उन्हें भोजन नहीं मिलता, कष्टपूर्ण जीवन बिताते हैं और तुम लोग आराम से रहते हो। जो अपने अपढ़ भाइयों के लिए त्याग नहीं करता, वह गद्दार है। इन पत्रों को पढ़कर हमारे मन में एक आग धधक उठती है। ये मानो अग्निमंत्र हैं।

अत: एक नया गृहस्थ-धर्म, एक नयी जाति का विकास करने के लिए ही श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा देवी और स्वामीजी आये हैं। उन्होंने अपने जीवन के माध्यम से बताया है कि सेवाभाव से कैसे कार्य किया जाता है। यही Citizenship अर्थात् नागरिकता का भाव है। अब केवल नाम के वास्ते गृहस्थ और Citizen अर्थात् प्रबुद्ध गृहस्थ — दोनों अलग-अलग चीजें हैं। हमारे यहाँ अधिकांश लोग केवल नाम मात्र को ही गृहस्थ हैं। एक लड़का और एक लड़की शादी करके गृहस्थ हो गये। वे साधारण अर्थों में गृहस्थ हो गये, परन्तु वास्तविक गृहस्थ का आदर्श हमारे सामने हो, तो हमारे मन में ऐसा प्रश्न उठेगा कि इस देश में इतनी बेकारी क्यों है, इतना शोषण क्यों है, इतनी गरीबी क्यों है? क्यों यहाँ एक कुत्ता भी खाने के अभाव में मर जाता है। हममें से हर व्यक्ति को सोचना होगा कि मुझमें ही कोई दोष है। आधुनिक युग में हमारे सभी गृही नर-नारियों को प्रबुद्ध नागरिक बनकर अपने देश के प्रति एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है; और वह उत्तरदायित्व है — इस शताब्दी के अन्त तक जनसंख्या में वृद्धि के दर को शून्य तक पहुँचा देना। प्रतिवर्ष जन्म लेनेवाले बच्चों की संख्या उतनी ही हो, जितनी कि एक वर्ष में मृत्यु आदि के द्वारा कम होती है। किसी भी परिवार में दो से अधिक बच्चे नहीं होने चाहिए। १९४७ ई. में प्राप्त हमारी स्वाधीनता के बाद से हमारी जनसंख्या में हुई भयंकर वृद्धि ने हमारे देश को विकास के फलों से वंचित कर दिया है। गुणवत्ता की अपेक्षा लोगों की संख्या में ही विस्तार हो रहा है। इसे अब निश्चय ही बदल देना होगा। निर्धनता का निवारण, सार्वभौम शिक्षा का प्रसार तथा सभी सामाजिक स्तर लोगों के लिए मानव जीवन के न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति इसी बात पर निर्भर करती है। चिकित्सकीय तथा आध्यात्मिक साधनों की सहायता से स्वयं छोटे परिवार का मानदण्ड अपनाकर तथा दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिए प्रेरणा देकर हमारे सभी गृहस्थों को अपनी सरकार द्वारा इस क्षेत्र में किये जानेवाले प्रयासों को सबल बनाना चाहिए। वर्तमान भारत रूपी एक प्रजातांत्रिक राज्य के नागरिक के रूप में एक सद्गृहस्थ का यही कर्तव्य है।

मैं काफी काल से प्रतिवर्ष विदेश जाता रहा हूँ। यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया — सभी देशों में मैंने देखा कि कहीं भी ऐसी बेकारी नहीं फैली है। वहाँ आदमी ही नहीं, कुत्ते-बिल्लियाँ तक स्वस्थ और सबल है। कहीं दरिद्रता नहीं, कहीं निर्धनता नहीं। ऐसा कैसे हुआ? किसी ने कोई जादू नहीं किया। केवल कर्मठता और एक साथ मिल-जुलकर काम करने के भाव ने उन्हें ऐसा बनाया। यहाँ भी ऐसा ही करना होगा। हमें अपना चरित्रबल बढ़ाना होगा। एक साथ काम करने की शक्ति हममें नहीं है। व्यक्तिगत रूप से हम अच्छे हैं, परन्तु अन्य दो लोगों के साथ काम करने की क्षमता हममें नहीं है। इसकी बहुत जरूरत है, क्योंकि आर्थिक और सामाजिक उन्नति हम अपने बूते पर नहीं कर सकते, सबके साथ मिलकर ही कर सकते हैं। इसी से संस्कृत में उसे अभिवृद्धि कहा गया है। 'अभि' याने सबके साथ और अभ्युदय का अर्थ है सबके साथ उदय। अतः हम लोग ऐसे गृहस्थ बनें, जिनमें प्रबुद्ध नागरिकता का बोध हो। ऐसे गृहस्थों से ही हर गाँव एक उच्च श्रेणी का गाँव बनेगा, ऐसा गाँव जहाँ सफाई होगी, बिजली होगी, शिक्षा होगी और सड़कें होंगी। एक साथ मिल-जुलकर काम करने से बहुत कुछ हो सकता है।

परन्तु समस्या यह है कि हम एक साथ काम कर नहीं कर पाते। हम मुकदमों में लिप्त रहते हैं। मैंने किसी दूसरे देश में इतनी मुकदमेबाजी नहीं देखी। हम आपस में बैठकर बातचीत के द्वारा कोई फैसला नहीं कर पाते। मन्दिर के ईश्वर पर हमारा विश्वास है, परन्तु मनुष्य पर बिल्कुल भी विश्वास नहीं है। विवेकानन्दजी ने कहा था — तुमने हजारों देवी-देवताओं की पूजा की है, परन्तु मनुष्य पर विश्वास नहीं किया, इसी कारण तुम्हारा ऐसा पतन हुआ है।

स्वामी विवेकानन्द ने मद्रास में प्रदत्त "भारत का भविष्य" विषय पर अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में कहा था, "अपने आप पर अगाध, विश्वास रखो। तुम सभी स्वयं पर विश्वास रखो, तभी तुम सम्पूर्ण भारतवर्ष को पुनरुज्जीवित कर सकोगे।" उन्होंने और भी कहा था कि पहले स्वयं पर विश्वास रखो, उसके बाद ईश्वर पर। मनुष्य में श्रद्धा रखने से सब कुछ हो जायगा। सो ऐसे श्रद्धावान गृहस्थ होने की आज आवश्यकता है।

हमारे संविधान के अनुसार हर १८ वर्ष का युवक मतदान करने का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार वह सर्वोच्च नागरिक हो गया, परन्तु यदि उसका चारित्रिक विकास नहीं हुआ, उसमें सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध नहीं आया, तो वह केवल

नाममात्र को ही नागरिक हुआ। मैं एक बार हरियाणा के सोनपत कॉलेज में व्याख्यान देने गया था। वहाँ के प्रिंसिपल ने मुझे बताया कि यहाँ बहुत से लड़के-लड़कियाँ दिल्ली से पढ़ने आते हैं, परन्तु उनमें से कोई भी रेल्वे का टिकट नहीं खरीदता। सभी बिना-टिकट यात्रा करते है। मैंने अपने भाषण में इस बात के लिए छात्रों की बड़ी भर्त्सना की। मैंने उनसे कहा — यह सब तुम लोग क्या करते हो? अपने देश की रेलगाड़ी में बिना भाड़ा चुकाये यात्रा करना, क्या यही नागरिकता है? तुम्हें अपने ऊपर ग्लानि नहीं होती? मैंने जब ऐसी भर्त्सना की, तो प्रिंसिपल बोले कि ऐसा तो अब तक किसी ने नहीं कहा। हम लोग यदि ऐसा कहें, तो मार खा जायेंगे। आपने बहुत अच्छा किया। अब से हम लोग भी कहेंगे।

भारत में अच्छे आदमी हों, आत्मगौरव से पूर्ण, केवल भिखारी नहीं, तो देश का कल्याण होगा। हमारे पास नागरिकता-बोध बिल्कुल भी नहीं है। मैं इस विषय पर हर जगह ध्यान आकृष्ट करता हूँ। जब केदार पाण्डेय मुख्यमंत्री थे, तब मैंने पटना के सचिवालय में कर्मचारियों के बीच भाषण में कहा था — देखो, इस समय तुम एक क्लर्क हो। क्लर्क कहने से साधारण आदमी लगते हो। लेकिन तुम्हें ऐसा महसूस करना चाहिए कि तुम भारत के नागरिक हो और क्लर्क का काम करते हो। वह केवल काम है, परन्तु तुम्हारा स्वरूप एक नागरिक का है। ऐसी मनोवृत्ति पैदा करो, तो तुम्हारा स्थान ऊँचा हो जायगा। एक गाँव में एक छोटे-से प्राइमरी स्कूल का शिक्षक कहता है — मैं तो एक छोटा स्कूल-मास्टर हूँ। इसका कारण यह है कि वह अपना वास्तविक स्वरूप नहीं जानता। उसे सोचना होगा — मैं भारत का एक नागरिक हूँ। और एक नागरिक के रूप में मैं यह काम करता हूँ। इस प्रकार कार्य करने से उन्नति होगी। देश के सभी लोगों को ऐसा सोचना चाहिए कि मैं भारत का नागरिक हूँ, मेरे कन्धों पर ही भारत की सारी समस्याएँ हैं। मैं भलीभाँति अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह करने की कोशिश करूँगा। ऐसा दृढ़ विश्वास जब हर आदमी का होगा, तब एक क्रान्तिकारी परिवर्तन देश में आयेगा। आजकल का यह भाव कि मैं एक छोटा-सा गृहस्थ हूँ, संसारी हूँ, दूर हो जायगा और उसके स्थान पर ऐसा भाव आयेगा कि मैं भारत का नागरिक हूँ और इसका मुझे गर्व है।

भारत के दो रूप

यह भारत क्या है? हजारों वर्षों से यह जीवित चला आ रहा है। इतनी लम्बी और गौरवशाली विरासत है हमारे इस देश की। अभी भी विदेशों में भारत को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। भारत के दो रूप हैं। उनमें से एक है अमर

भारत। इस अमर भारत का सारी दुनिया श्रद्धा तथा सम्मान करती है। और दूसरा है रोगी भारत। हमारा आज का भारत भ्रष्टाचार, हिंसा, लूट-खसोट, मुकदमेबाजी तथा ईर्ष्या-द्वेष आदि बुराइयों से परिपूर्ण भारत है। संसद तथा विधानसभाओं में भी रुग्ण भारत की ही छवि दिखाई पड़ती है। परन्तु अमर भारत है — वेद-वेदान्त के ज्ञान से परिपूर्ण भारत। इसी को पूरी दुनिया सम्मान की दृष्टि से देखती है। मैं प्रतिवर्ष विदेश जाता हूँ। परन्तु इसमें भारत का एक भी पैसा नहीं खर्च होता, दूसरे देशों के लोग इसकी व्यवस्था करते हैं। खर्च देकर वे मुझे ले जाते हैं और वेदान्त तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द के विषय में सुनना चाहते हैं। हॉलैण्ड, जर्मनी, रूस, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों की सरकारों ने मुझे अतिथि के रूप में बुलाया है। बहुत से देशों ने मुझे अमर भारत के प्रतिनिधि के रूप में बुलाया है। इन सब देशों में अमर भारत के प्रति अपार श्रद्धा-भाव है, क्योंकि वे जानते हैं कि उन्हें अमर भारत से कुछ प्राप्त होनेवाला है। परन्तु आज का यह भारत रोगों से, बुराइयों से और भिखमंगों से भरा हुआ है। १५ वर्ष पहले तक हम लोग पूरी दुनिया में केवल भिखारी के रूप में ही जाते थे — सहायता पाने के लिए। मैं न्यूजीलैण्ड में अपने राजदूत के घर ठहरा था। उनकी लड़की वहाँ स्कूल में पढ़ती थी। उसने बताया कि उसके स्कूल के प्रधानाध्यापिका ने एक दिन एक लड़की को दिखाकर कहा — तुम क्यों ऐसी छींट की शर्ट पहनती हो? इसे इन्दिरा गाँधी के पास भेज दो, भारत के गरीबों के काम आयगी। उस राजदूत की लड़की ने बताया कि यह सुनकर उसे बड़ी लज्जा आई कि क्या हम इतने ही गये-बीते हैं। हम सारे संसार में केवल भीख माँगने के ही योग्य हैं। यह मनोवृत्ति बहुत खराब है।

मैंने दिल्ली आकर दूरदर्शन को एक इण्टरव्यू दिया था। उसमें मैंने इस घटना की चर्चा की और बताया कि यह बड़े ही लज्जा की बात है कि सारी दुनिया भारत को एक भिखारी समझती है। अतः हमें इस रोगी भारत को यथाशीघ्र अमर भारत की ओर ले जाने का प्रयास करना होगा। हमारे देश में चरित्र का जो इतना ह्रास हुआ है, वह अत्यन्त सोचनीय है। कहीं भी आपसी सहयोग नहीं, बस हर जगह झगड़े-टंटे। कोई भी अपना काम ठीक ढंग से नहीं करता। कोई स्कूल अच्छी तरह नहीं चलता। बहुत से शिक्षक तो स्कूल ही नहीं जाते। मैं एक प्रदेश में गया था। वहाँ एक सज्जन ने मुझे बताया, "स्वामीजी यहाँ के शिक्षक का वेतन मासिक ८०० रुपये है। वह २०० रुपये देकर किसी दूसरे आदमी को अपनी जगह पढ़ाने के लिए भेज देता है, खुद नहीं जाता। ६०० रुपये बीच में खुद मार लेता है।" ऐसा

मैंने दुनिया में कहीं नहीं देखा। जो बुराइयाँ इस समय हमारे देश में फैली हुई हैं, वे विश्व के किसी भी देश में नहीं हैं।

आजादी के पहले हमारे देश में बहुत-से अच्छे लोग थे, विशाल भावोंवाले लोग थे। पर आज यहाँ केवल छोटे आदमी ही हैं। मैं अक्सर कहा करता हूँ, हम लोग एक बड़े तथा महान देश के छोटे लोग हैं। इस हालत को हमें सुधारना होगा। कभी वह देश अत्यन्त महान् हुआ करता था। यहाँ अनेक विदेशी आये और हमारे सुन्दर भाव यहाँ से ले गये। भारत महत्तम विचारों और भावों की जन्मभूमि है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा — उदार बनो। उदारता ही जीवन है और संकुचन ही मृत्यु है। आज हम मृत्यु की ओर बढ़ रहे हैं। अतः संकुचित भाव छोड़कर आप सभी लोग विशाल, उदार होने का प्रयास करें। हर क्षेत्र में भावों का विस्तार हो, छोटे तथा संकुचित भाव छोड़ दिये जायँ। लघु भारत के भाव को छोड़कर विराट् व महान् भारत का भाव अपनाइये। स्वामी विवेकानन्द के भाषणों में हमें ये ही भाव प्राप्त होते हैं। वे कहते हैं कि हमारे पूरे धर्म में केवल आचार-अनुष्ठान ही रह गया है। उसमें नब्बे प्रतिशत केवल अनुष्ठान ही अनुष्ठान हैं और उसे भी हम स्वयं न करके किसी पण्डित या पुरोहित के माध्यम से कराते हैं। बस केवल आठ आने या एक रुपया उसे दे देने से ही काम हो गया। ऐसा हो गया है हमारा धार्मिक भाव। श्रीरामकृष्ण कहते हैं — जीवन में उन्नति को ही धर्म कहते हैं। यह एक आन्तरिक विकास है। अपने जीवन में इसी आध्यात्मिक उन्नति का प्रयास करो।

एक छोटा-सा बच्चा जन्म के समय सात या आठ पौण्ड का रहता है। बाद में वह बीस पौण्ड और सौ पौण्ड का भी हो जाता है। यह है शारीरिक विकास। इसी तरह मन का विकास भी होता है। स्कूल जाते समय उसका मन छोटा था, धीरे-धीरे वह विकसित होता है, ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि करता है। उसी तरह धर्म में भी होता है। प्रतिदिन मन्दिर जाकर भी यदि हम यथावत् ही रह गये, तो यह धर्म नहीं हुआ। इसीलिए विवेकानन्द कहते हैं — आत्मविकास करो, आध्यात्मिक विकास करो। मन्दिर में जाओ, चुपचाप ध्यान करो, पूजा करो, तत्पश्चात् मन्दिर से बाहर आकर दूसरे मनुष्यों को भगवान समझकर उनका आदर करो। उनके अन्दर भी भगवान को अनुभव करने का प्रयास करो। यही आध्यात्मिक विकास है। स्वामीजी के व्याख्यानों में ये समस्त महान तथा शक्तिदायी विचार सरल तथा सबल शब्दों में प्राप्त हैं। रोमाँ रोलाँ ने कहा था — स्वामी विवेकानन्द के शब्दों से बिजली के आघात-सा लगता है। यह आघात हमें भी लगे, तो फिर हम भारत के

सच्चे नागरिक बन सकेंगे।

यहाँ हमारे देश में ८० करोड़ लोग हैं, परन्तु काम करने में हम लोग कमजोर हैं। जर्मनी तथा हालैण्ड की तुलना में हमारे श्रमिक दुर्बल हैं। हम लोग केवल बातों में अपनी ऊर्जा खर्च कर डालते हैं। हम एक बातूनी देश हैं, हर जगह बस केवल बातें, बातें और बातें। संसद में, विधानसभाओं में, सड़कों पर — हर जगह गप्पें हाँकना, बड़ी बड़ी बातें बघारना — यही हमारा राष्ट्रीय स्वभाव है। स्वामीजी कहते हैं — बातें कम करो, अनुभव अधिक करो, कार्य अधिक करो। संसार में किसी देश के लोग भारतवासियों जितना नहीं बोलते। कारखानों में तथा दफ्तरों में काम करते समय वे बातचीत नहीं करते। इससे ऊर्जा बचती है। परन्तु हम हर समय बातों में लगे रहते हैं। अतः हमें मंदिर में चुपचाप ध्यान और कारखानों तथा दफ्तरों में चुपचाप काम करना चाहिए। इससे जो ऊर्जा बचेगी, उससे अनुभव करने की शक्ति आयेगी। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के दिखाये रास्ते पर चलने से ये बातें हमारे जीवन में आयेंगी। विवेकानन्द साहित्य हिन्दी में १० खण्डों में और अंग्रेजी में ८ खण्डों में उपलब्ध है। इनमें शक्तिदायी व्याख्यान है। इन व्याख्यानों को पढ़ने से हम जान सकेंगे कि अपने मन को कैसे आधुनिक बनाया जा सकता है। स्वामीजी आधुनिक थे, इसी कारण उनके व्यक्तित्व में पूरब तथा पश्चिम का समन्वय हुआ था। दोनों की संस्कृतियों का उनमें मिलन हुआ था। आज हमें पाश्चात्य देशों की भौतिक-शक्ति और भारतीय की आध्यात्मिक संस्कृति — दोनों को मिलाकर ग्रहण करने की जरूरत है। स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त देश के लिए परम उपयोगी है। देश का विकास श्रीरामकृष्ण, विवेकानन्द और माँ सारदा देवी के बताये राह पर चलकर ही हो सकता है।

बिहार में कभी बहुत अधिक संख्या में संन्यासी थे और वे ही इस राज्य को चलाते थे। स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि केवल कुछ लोग ही संन्यासी बनें और बाकी सबल तथा सुदृढ़ गृहस्थ रहें, सबके साथ सहयोग और पड़ोसियों की मदद करने के भाव से युक्त गृहस्थ रहें। ऐसा हो, तभी इस देश का मंगल होगा। अतः मैं आप सबसे अनुरोध करना हूँ कि आप स्वामीजी के बताये आदर्शों के अनुसार सच्चे गृहस्थ बनें — राष्ट्र के मंगल के लिए स्वयं का उत्सर्ग करनेवाले तथा धर्म के लिए जीवन समर्पित कर देनेवाले गृहस्थ बनें।

□

चरित्र - निर्माण कैसे करें

स्वामी बुधानन्द

(यह लेख मूलतः रामकृष्ण संघ के आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के दिसम्बर ६६ ई० के अंक में सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुई और तदुपरान्त The Saving Challenge of Religion' (धर्म की रक्षक शक्ति) नामक पुस्तक के एक अध्याय के रूप में संकलित हुई। बाद में इसे पुनः संशोधित तथा परिवर्धित करके १६८३ ई. के मई में एक अंग्रेजी पुस्तिका के रूप में निकाला गया, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। आज के समाज और विशेषकर नवयुवकों के बीच इसके व्यापक प्रसार की आवश्यकता तथा महत्व को ध्यान में रखकर, हम 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहे हैं। - सं.)

प्रस्तावना

चरित्र वह ज्योति है, जो सूर्यास्त हो जाने और सभी रोशनियों के बुझ जाने के बाद भी आलोकित होती रहती है।

चरित्र वह शक्ति है, जिसके द्वारा हम हारते हुए युद्धों को भी जीत में परिणत कर सकते हैं।

चरित्र मनुष्य में जाग्रत वह दिव्यता है, जिसके समक्ष पागलों को छोड़ सभी नतमस्तक हो जाते हैं।

चरित्र वह उत्प्रेरणा है, जो निर्धनता के बीच भी चमकती रहती है।

चरित्र वह सुदृढ़ नींव है, जिस पर जीवन की समस्त कालजयी संस्थाएँ खड़ी हैं।

लुटेरे दुनिया की हर वस्तु तक पहुँचकर उसे लूट सकते हैं, परन्तु चरित्र को नहीं। यदि हम चरित्र के अतिरिक्त अपना सब कुछ खो चुके हैं, तो वस्तुतः हमने कुछ भी नहीं खोया।

मनुष्य के द्वारा निर्मित हर वस्तु मनुष्य नष्ट कर सकता है, परन्तु चरित्र को नष्ट नहीं कर सकता।

चरित्र हो, तो हम निर्भयतापूर्वक किसी भी प्रकार के वर्तमान और भविष्य का सामना करके उस पर विजय प्राप्त कर सकते है। परन्तु इसके अभाव में न तो हमारा कोई वर्तमान है और न भविष्य ही।

चरित्र की व्यवस्था के बिना शिक्षा निरुपयोगी है। चरित्र का सम्प्रेषण ही

शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य है।

जो लोग अपनी सन्तानों को सब कुछ देकर भी चरित्र नहीं दे पाते, वे मानो उन्हें 'रोटी' की जगह 'पत्थर' देते हैं।

मनुष्य अपना चरित्र स्वयं ही बना सकता है और उसका निर्माण करने के बाद उसे खो भी सकता है। जीवन धारण के लिए श्वास लेने के समान ही, चरित्र को भी निरन्तर देखभाल की जरूरत है।

कोई भी राष्ट्र उतना ही बलवान है, जितना कि उसका चारित्रिक आधार। कोई भी व्यक्ति उतना ही सुरक्षित है, जितना कि उसका चरित्र।

चरित्रहीनता उस दरिद्रता का नाम है, जिससे बुरा और कुछ भी नहीं हो सकता।

एक सामान्य व्यक्ति आपाततः जगत में आनेवाले संकटों के निवारण में अप्रभावी-सा प्रतीत हो सकता है, परन्तु यदि उसने अपने चरित्र की देखभाल की है और दूसरों को भी इसमें सहायता की है, तो वह अपने कर्तव्य-पूर्ति पर सन्तोष करते हुए अन्य सभी चीजों की चिन्ता छोड़ सकता है।

१. मजबूत बाँधों तथा दुर्बल मनुष्यों की विडम्बना

यदि हम बाँधों को मजबूत और मनुष्यों को कमजोर बनाएँ, तो क्या यह धन का सही उपयोग होगा? यदि हम किसी सिद्धान्त को बचाये रखने के लिए राष्ट्र को ही डुबा दें, तो फिर सोचिए राजनीति ने मनुष्य को क्या बना दिया है? यदि मनुष्य रोबोट बन जाय और रोबोट भी अत्यधिक बुद्धिमान तथा दक्ष बन जायँ, तो क्या यह सभ्यता की अधोगति नहीं है? समृद्धि को समाज के सभी वर्गों में न लाकर, यदि केवल एक ही वर्ग के द्वारा भावित उपायों से, केवल उन्हीं के बीच आने दी जाय, तो हमने 'प्रगति' के रूप में पागलपन के अतिरिक्त और क्या पाया? यदि हमने सर्वत्र अपने विष-वमन की इच्छा से सम्पूर्ण विश्व को संचार के साधनों से जोड़ दिया है, तो हमने दूरियाँ कम कहाँ की? यदि हमारी सारी शक्तियाँ, कुशलता, निष्ठा, एकाग्रता अपने भाइयों को उनके स्थिति से नीचे गिराने के काम में लगती हैं, तो क्या यह एक अद्भुत क्रियाशीलता नहीं है? यदि हम तकनीकी दृष्टि से अन्तरिक्ष-यान में सवार होकर चन्द्रमा तक पहुँचने में सक्षम हो गये हैं और पृथ्वी पर इस प्रकार का जीवन बिताएँ, तो क्या हम वैज्ञानिकता की अपेक्षा पागलपन

के प्रभाव से ऐसा नहीं कर रहे हैं?

यदि 'प्रगति' के साथ साथ हम स्वयं पतित हो रहे हों, तो फिर हम कितना आगे बढ़ चुके हैं?

२. मनुष्य अपना बुद्धिमान विनाशक

मानो या न मानो, प्रकृति मनुष्यों को भोजन देने में कृपणता नहीं करती, परन्तु मनुष्य उसे अँधेरे कोनों में छिपाकर मनुष्य को वंचित करता है। और क्यों करता है? इसलिए कि वह धन कमाना चाहता है! और एक दिन वह अपनी सारी दौलत को बैंकों में छोड़कर एक कीट के समान मर जाता है, परन्तु वह मानवीय आचरण नहीं करता!

मानो या न मानो, प्रकृति भोज्य पदार्थों में मिलावट नहीं करती। परन्तु मनुष्य स्वयं अपने, अपने बच्चों तथा अन्य लोगों को खिलाने के पहले भोजन में मिलावट करता है।

मानो या न मानो, गाय इतनी उदार तथा नैतिक है कि वह हमें शुद्ध दूध देती है, परन्तु मनुष्य किसी को शुद्ध दूध नहीं पीने देता।

मानो या न मानो, खनिज तथा रसायन आपस में साठ-गाँठ करके भयावह विध्वंशकारी अस्त्रों का निर्भाण नहीं करते, परन्तु मनुष्य करता है।

मानो या न मानो, आकाश के पास अपना अस्त्रागार नहीं है और उसने मनुष्य के सिर पर कभी कोई बम नहीं फेंका, परन्तु मनुष्य बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक वहाँ जाता है और अपने मानव भाइयों के ऊपर बम फेंकता है। अपने कृत्यों पर इतराते हुए वह सोचता है कि उसे विजय मिल रही है।

मानो या न मानो, पृथ्वी ने सभी मनुष्यों के लिए पर्याप्त भूमि तथा संसाधन दिये हैं; परन्तु मनुष्य ने मनुष्य को उससे वंचित करके उसे निर्धन बना रखा है।

मानो या न मानो, मनुष्य परमात्मा के साथ अभिन्न है, परन्तु उसने अपने आपको कितना सीमित कर लिया है!

३. चरित्र : मनुष्य की परम आवश्यकता

तो फिर आज के मानव की परम आवश्यकता क्या है?

प्रत्येक कार्य के पहले, बाद में तथा मध्य में मनुष्य को एक ही सूत्र जानने की आवश्यकता है; और वह है सच्चा मनुष्यत्व प्राप्त करने का सूत्र।

वह सूत्र क्या है?

कन्फूशियस के मतानुसार[1] वह उद्धारक सूत्र है — "अपने स्वयं के चरित्र का निर्माण तथा साथ ही दूसरों को भी वैसा ही करने में सहायता करना; स्वयं सफलता प्राप्त करने का प्रयास और दूसरों की भी सफलता में सहायक होना।"

यही वस्तुतः सर्वोदय का — सबकी एक साथ उन्नति का सिद्धान्त है।

विभिन्न व्यक्तियों, समाजों तथा राष्ट्रों की आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न हैं। उनकी परिपूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय किये जाते हैं, जो प्रायः किसी-न-किसी रूप में दूसरों की उन्नति के प्रतिकूल सिद्ध होते हैं। परन्तु समस्त व्यक्तियों, समाजों तथा राष्ट्रों की एक सार्वभौमिक आवश्यकता है और वह है यथेष्ट चरित्र की। यथेष्ट चरित्र रहे, तो मनुष्य वास्तविक मनुष्य बन सकता है। और एक वास्तविक मनुष्य ही अपनी समस्याओं को हल कर सकता है तथा दूसरों की समस्याओं के निवारण में सहायक हो सकता है।

कन्फूशियस कहते हैं, "जिसमें मनुष्यत्व नहीं है, वह न तो अधिक काल तक निर्धनता को सहन कर सकता है और न ही सम्पन्नता को पचा सकता है।"[2] कितनी सत्य है यह बात! यदि मनुष्य में यथेष्ट चरित्र न हो, तो निर्धनता उसे पशु में परिणत कर देती है और सम्पन्नता बर्बर बना देती है।

४. जीवन चलाने के लिए यथेष्ट चरित्र चाहिए

सर्वोपरि हमें अपनी जीवनयात्रा चलाने के लिए यथेष्ट चरित्र की आवश्यकता है। नहीं तो हम चाहे जो भी क्यों न करें; हमारे जीवन के व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय — सभी स्तरों पर समस्याओं में वृद्धि ही होती जायगी। अतः समस्याओं के समाधान के लिए बहुत कुछ करना और चरित्र-निर्माण के लिए कुछ भी न करना, समझदारी का परिचायक नहीं है।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो हमारी शक्तियों की अपेक्षा दुर्बलताएँ ही अधिक प्रभावी होंगी, हमारे सौभाग्य की तुलना में दुर्भाग्य ही अधिक प्रबल होगा, हमारे जीवन में सुख-शान्ति की जगह शोक-विषाद की ही बहुतायत होगी

---

1 Lin Yutang, The Wisdom of China and India, New York, The Modern Library, 1942, p. 830)

2. Ibid., Chapter 'Aphorisms of Confucius', p.833)

और हमारे भविष्य की तुलना में हमारा अतीत ही अधिक गौरवशाली होगा।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो हमारे मित्रों की अपेक्षा शत्रु ही अधिक सबल होंगे, शान्ति की तुलना में युद्ध ही अधिक होंगे, मेल-मिलाप के स्थान पर हिंसा का ही आधिक्य होगा। यथेष्ट चरित्र के अभाव में हमारी रेलगाड़ियाँ समय से नहीं चलेंगी; कारखाने अपनी क्षमता के अनुरूप उत्पादन नहीं करेंगे; उद्योग चौपट हो जायेंगे और खेतों से आशानुरूप फसल नहीं होगी।

यदि यथेष्ट चरित्र न हो, तो हमारे मन्दिर व्यावसायिक-केन्द्र बन जायेंगे और शिक्षाकेन्द्र कारखाने मात्र बन कर रह जायेंगे। हमारे पास यदि यथेष्ट चरित्र न हो, तो हम ऐसे कार्यों को टालेंगे जो हमें पूर्ण बनाते है और उत्साहपूर्वक ऐसे कार्य करेंगे जो बरबादी लाते हैं। यदि यथेष्ट चरित्र न हो, तो हमारे बाँध बाढ़ को रोक नहीं सकेंगे, हमारे पुल बह जायेंगे और हमारे राजमार्ग जगह जगह टूटकर जीवन का विनाश करेंगे।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो हमारी नगर-पालिकाएँ गुटबन्दी के अड्डे बन जायेंगे; सड़कें कूड़े-कचरे से परिपूर्ण होंगी और हमारे कार्यालयों में कामचोरी का साम्राज्य होगा। यदि यथेष्ट चरित्र न हो, तो हमारे नेता अपने नेतृत्व की खरीद-फरोश्त करेंगे; हमारे राजनीतिक दलों में फूट होगी; हमारे पुरोहित दुकानदारों के समान होंगे और व्यवसायी 'गला काटने' में आनन्द का अनुभव करेंगे।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो सेवा-कार्यों की अपेक्षा आपराधिक कर्म ही अधिक होंगे, सुरक्षित स्थानों की तुलना में असुरक्षित स्थानों का ही बाहुल्य होगा, विश्वसनीय व्यक्तियों की अपेक्षा संदिग्ध लोगों की संख्या ही अधिक होगी। यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो युवक तथा युवतियाँ असंयमी होंगे, वृद्ध तथा वृद्धाएँ उत्तेजक तथा तारुण्यपूर्ण आचरण करेंगे, जिसके फलस्वरूप सरकार को अधिकाधिक पागलखाने खोलने की आवश्यकता होगी। यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो हमारी संस्कृति कामुकता का पर्याय बन जायेगी, हमारी कला धूल में मिल जायेगी और हमारा साहित्य शुद्ध इन्द्रियपरता में परिणत हो जायेगा।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो हमारे समाज में शान्ति-सामंजस्य, सुख-संयम तथा सच्चाई व ईमानदारी की तुलना में लड़ाई-झगड़ों, उत्तेजना-उपद्रव, भ्रष्टाचार तथा भाई-भतीजावाद का बोलबाला होगा। हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो धन कमाने के लिए हम निम्न तथा कुरुचिपूर्ण भावों को बढ़ावा देनेवाली चीजों

को बेचकर, लोगों के और यहाँ तक कि अपने बच्चों की अभिरुचि को भ्रष्ट कर डालेंगे। यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो धर्म निर्जीव अनुष्ठानों तक ही सीमित रह जायगा, नैतिक मूल्य विकृत होकर वितण्डावाद में परिणत हो जायेंगे, लोकहित आत्मप्रशंसा के हेतु सामाजिक कार्य में, आध्यात्मिकता ऐहिकता में, ऐहिकता सुखवाद में और सुखवाद विनाश में परिणत हो जायगा।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो छात्रों के रूप में हम गम्भीर अध्ययन में कालयापन के स्थान पर अपने पाठ्यक्रम से अलग की गतिविधियों में ही अधिक रुचि लेंगे और हम ऐसे विचारों तथा कार्यों में व्यस्त रहेंगे, जो हमारी जीवन-कलिका को गलत आकार देंगे और इसके फलस्वरूप हम खिलने के पहले ही मुरझा जायेंगे। बाद में जब हमें अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ेगा, तो हमें पता चलेगा कि हम कहीं के नहीं रहे। और तब हम निर्लज्जतापूर्वक दूसरों द्वारा उपार्जित रोटियों पर पलते हुए आनेवाली क्रान्तियों के स्वप्न देखेंगे।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो हमारा ज्ञान बड़ी जटिलता के साथ मनुष्य की बरबादी के काम में लगेगा; छोटी छोटी चीजों के लिए हम अत्यन्त बुद्धिमत्ता का प्रयोग करेंगे और हमारा अथक उद्यम भी निष्फल सिद्ध होगा।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो उचित विचार हमारे लिए असम्भव होगा और गलत विचारों से भला आकांक्षित फल कैसे प्राप्त हो सकेगा? यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र न हो, तो हम या तो अतीत में रहेंगे या भविष्य में, न कि जाग्रत वर्तमान में। हमारी शक्तियाँ आत्मसुधार या सामाजिक हित के लिए साहसपूर्ण संघर्ष में लगने के स्थान पर, निरन्तर जगत के दोषों की शिकायत करते हुए अतीव नकारात्मक ढंग से खर्च होंगी।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र का अभाव हो, तो हमारे वैवाहिक सम्बन्ध बालू के घरौंदों जैसे, घर साँपों के विवर के समान, सन्तान लोमड़ियों जैसे और मानवीय सम्बन्ध स्वार्थ तथा चालबाजी-भरे होंगे। इसके परिणामस्वरूप गृहविहीन अनाथों, अपराधियों, धूर्तों, ठगों, पागलों तथा असामाजिक तत्त्वों की संख्या में वृद्धि होगी।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र का अभाव हो, तो लोकतंत्र में ऐसे लोग सत्ता पर अधिकार जमा लेंगे कि जनता पुकार उठेगी, "हाय, कब हमें एक तानाशाह मिलेगा!" यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र का अभाव हो, तो योजना के अनुसार अन्न का उत्पादन होने पर भी सबके लिए पर्याप्त भोजन का अभाव होगा। मानव के

चरित्र के समान ही अन्न भी लुप्त हो जायेगा।

यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र का अभाव हो, तो हमारी आपात प्रगति भी वस्तुतः अधोगति होगी, हमारी समृद्धि ही हमारे विनाश का कारण होगी और हमारी अत्यन्त जटिल पीड़ाएँ समाप्त होने का नाम ही न लेंगी। यदि हमारे पास यथेष्ट चरित्र का अभाव हो, तो सर्वत्र भौंड़ेपन का साम्राज्य होगा, हमारे चेहरों की चमक खो जायेगी, हमारे नेत्रों का तेज, हृदय की आशा, मन के विश्वास की शक्ति, आत्मा का आनन्द — सब चले जायेंगे।

५. चरित्र से सब कुछ लभ्य है

यदि यथेष्ट चरित्र के अभाव में उपरोक्त बातें होना सत्य है, तो फिर यथेष्ट चरित्र होने पर उसके विपरीत होना भी उतना ही सत्य है। यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारी शक्तियाँ हमारी दुर्बलताओं से, हमारा सौभाग्य हमारे दुर्भाग्य से, हमारे सुख हमारे दुखों से अधिक होंगे और हमारा वर्तमान तथा भविष्य हमारे अतीत से कहीं अधिक गौरवशाली होगा।

यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारे मित्र हमारे शत्रुओं पर भारी पड़ेंगे, युद्ध के जगह शान्ति होगी, हिंसा की जगह भाई-चारे का प्राबल्य होगा। यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारी गाड़ियाँ समय से चलेंगी, कारखाने आशा से अधिक उत्पादन करेंगे, उद्योग-धन्धे शान्तिपूर्वक फले-फूलेंगे और खेतों से आशातीत फसल होगी।

यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारे मन्दिर प्राणों में ताजगी लाने के पुण्यस्थान होंगे, हमारे विद्यालय मनुष्य निर्माण करनेवाले तीर्थक्षेत्रों में परिणत हो जायेंगे। यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारे बाँध बाढ़ का नियंत्रण करने में सक्षम होंगे, हमारे पुल चिर-मित्रता का नाता जोड़ेंगे और हमारे राजमार्ग हमें लक्ष्य की ओर ले जाने के स्थायी साधन होंगे।

यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारी नगरपालिकाएँ एक अखण्ड शरीर के रूप में कार्य करेंगी, हमारी सड़कें स्वच्छ आंगनों के समान होंगी, हमारे कार्यालय यज्ञशालाओं के अनुरूप होंगे। यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारे नेता लक्ष्मण के लिए राम के समान हमारे ज्येष्ठ भ्राता के तूल्य होंगे, हमारे पुरोहित ऋषियों के समान तथा व्यवसायी समाज के ट्रस्टियों के रूप में सम्मानित होंगे।

यथेष्ट चरित्र हो, तो छात्रों के रूप में हममें इतनी समझ होगी कि अपनी ऊर्जा

का संरक्षण करना, भलीभाँति अध्ययन करना और अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करके अस्तित्व के संघर्ष हेतु अपने को पूर्णतः सज्जित कर लेना ही एक छात्र का कर्तव्य है। तब हम आसानी से समझ सकेंगे कि किस प्रकार कुछ लोग, हमारे हितों की बलि चढ़ाकर, अपने निहित स्वार्थों के लिए हमारा उपयोग करने का प्रयास कर रहे हैं।

यथेष्ट चरित्र हो, तो युवक-युवतियाँ शिष्टाचार, मर्यादा तथा संयम से युक्त होकर वयस्क होने तक जवान बने रहेंगे और वृद्ध लोग देखने की चीज होंगे। यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारी संस्कृति मधुर तथा प्रकाशमान होगी, कला सौन्दर्यमय ईश्वर की अभिव्यक्ति होगी और साहित्य आत्मा तथा इन्द्रियातीत तत्त्व की अभिव्यक्ति का एक उत्कृष्ट प्रयास होगा।

यथेष्ट चरित्र हो, तो सांसारिक जीवन हमारी आध्यात्मिकता से अलग नहीं प्रतीत होगा और आध्यात्मिकता हमारे श्वास-प्रश्वास के समान ही सहज हो जायगी। यथेष्ट चरित्र हो, तो हम जगत को उसके वास्तविक रूप में देखेंगे। और तब हम नकारात्मकता में समय बरबाद न करके, बल्कि आत्मोन्नति तथा अन्य मनुष्य भाइयों के उत्थान रूपी साहसिक प्रयास में जुट जायेंगे।

यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारे समाज में झगड़ा-फसाद, उत्तेजना-आन्दोलन तथा हिंसा की तुलना में समझ, शान्ति, सद्भाव तथा सामंजस्य का प्राबल्य होगा। यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारे गृह आश्रमों के समान, परिवार संगीत के समान और हमारी सन्तानें वेदी के पुष्पों के समान होंगी।

यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारे दुर्दिन समृद्धि के बीजक्षेत्र होंगे, हमारी बाह्य समृद्धि आन्तरिक समृद्धि की उपलब्धि के अवसर होंगे और हमारे दुख-कष्ट वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से वरदान सिद्ध होंगे। यथेष्ट चरित्र हो, तो हमारे चेहरे पर कान्ति होगी, नेत्रों में ज्योति होगी, हृदय में आशा तरंगायित होगी, मन शुभ संकल्पों से परिपूर्ण होंगे और हमारी आत्मा परम आनन्द से ओत-प्रोत होगी।

(शेष आगामी अंक में)
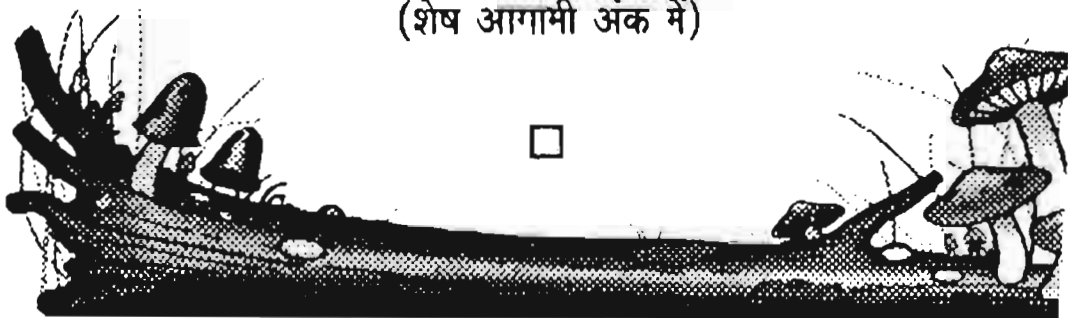
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (१)

कुमुदबन्धु सेन

(स्वामीजी से सम्बन्धित निम्नोक्त स्मृतियाँ बँगला मासिक 'उद्बोधन' में प्रकाशित होकर 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक ग्रन्थ में संकलित हुई थीं। प्रस्तुत है वहीं से दो भागों में उसका हिन्दी अनुवाद। - सं.)

स्वामीजी जब (१८९७ ई. में) पाश्चात्य देशों से कलकत्ता लौटे, तभी मैंने उनका ठीक ठीक प्रथम दर्शन किया। वैसे इसके पहले (१८९० ई. में) भी एक बार मैंने उन्हें मणि गुप्त महाशय के मस्जिदबाड़ी मुहल्ले में स्थित जोड़ा मन्दिर के पास देखा था।

वहीं खड़ा होकर मणिबाबू के साथ बातचीत कर रहा था कि सहसा एक तेजस्वी श्यामवर्ण युवक ने आकर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा, "क्या रे खोका, कैसा है?"

मणि गुप्त शीघ्रतापूर्वक उनके चरणों की धूल लेकर बोले, "उन्होंने जैसे भी रखा है। लगता है तुम बेनी उस्ताद के घर जा रहे हो?"

युवक 'हाँ' कहकर बेनी उस्ताद के पास संगीत सीखने चला गया। मैंने मणिबाबू से पूछा, "ये कौन हैं?", वे बोले, "ठाकुर जिन्हें 'सहस्त्रदलपद्म' और सप्तर्षियों में से एक 'ऋषि' कहा करते थे, ये वही नरेन्द्रनाथ हैं।"

फिर वार्तालाप के दौरान स्वामीजी के बारे में चर्चा हुई। बाद में मणिबाबू के माध्यम से मुझे स्वामी योगानन्द, त्रिगुणातीतानन्द, सारदानन्द आदि के साथ भी परिचित होने का सौभाग्य मिला। वैसे उस समय तक इनमें से किसी का भी संन्यास नाम प्रचलित नहीं हुआ था।

प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी कुछ दिनों के लिए सुविख्यात चिकित्सक गंगाप्रसाद सेन के मकान में ठहरे हुए थे। गोसाईंजी के आदेश पर उनके दर्शनार्थियों के बीच एक पुस्तिका वितरित की जा रही थी, जिसमें शिकागो की धर्ममहासभा में प्रदत्त स्वामी विवेकानन्द का व्याख्यान और अमेरिकावासियों पर उनके प्रभाव, उनकी वाग्विदग्धता आदि की बातें लिपिबद्ध थीं। उस पुस्तिका को पढ़कर मुझे पता चला कि नरेन्द्रनाथ ही विवेकानन्द हैं। उसमें वराहनगर तथा आलमबाजार के मठों का उल्लेख था।

१९८३ ई. के मध्य भाग में मैं वराहनगर मठ के संन्यासियों के साथ सुपरिचित हो चुका था। हम लोग तब युवक थे। स्वामीजी जब भारत लौटे, उस समय मैं एण्ट्रेन्स पास कर अभी कालेज में दाखिल ही हुआ थे। बलराम मन्दिर में श्री महाराज (ब्रह्मानन्द), योगेन महाराज, गिरीशबाबू, अतुलबाबू, पूर्णबाबू आदि ठाकुर के लीला-सहचरों के साथ स्वामीजी के बारे में चर्चा हुआ करती थी। रामनाद तथा मद्रास में स्वामीजी के विराट संवर्धना हुई और 'इण्डियन मिरर' पत्र में उसका विवरण भी प्रकाशित हुआ। इस समय हम युवकों में एक अपूर्व भाव का संचार हुआ था। मैं प्रायः ही शाम को या कभी सुबह स्वामीजी के बारे में समाचार लेने बलराम मन्दिर जाया करता था।

चारों ओर से स्वामीजी के स्वागत-समारोह के समाचार आ रहे थे, परन्तु कलकत्ते में अभी किसी अभ्यर्थना-समिति का गठन नहीं हुआ था — यही विषय लेकर जब वहाँ चर्चा चल रही थी, तो (ठाकुर के) छोटे नरेन, जो एटॉर्नी थे, बोले, "श्रीयुक्त एन. एन. घोष ने 'इण्डियन नेशन' में स्वामीजी की बड़ी प्रशंसा की है। राजा विनयकृष्ण पर उनका खूब प्रभाव है। उन्हीं के पास एक बार प्रस्ताव रखकर देखूँ, सम्भव है उधर से कोई समिति गठित हो जाय।

तब चारों ओर एक अभ्यर्थना-समिति गठन करने का प्रयास चलने लगा। कलकत्ते के सुप्रसिद्ध लोगों तथा श्रीयुक्त हीरेन दत्त ने इस विषय में काफी उत्साह दिखाया। दरभंगा के महाराजा लक्ष्मीनारायण सिंह के सभापतित्व में स्वामीजी को एक मानपत्र अर्पित करने का निर्णय लिया गया।

मैं उस समय महात्मा विजयकृष्ण के शिष्य सतीश सरकार के साथ गोसाईंजी का दर्शन करने गया। वे मेरे स्वर्गीय पिता से परिचित थे और मुझसे सस्नेह बोले, "तो तुम प्रसन्न के लड़के हो!" गोसाईंजी के यहाँ प्रतिदिन संध्या को संकीर्तन होता था और उस समय मैं उनका भावविह्वल नृत्य देखकर मुग्ध हो गया। एक दिन मैंने देखा कि गोसाईंजी अत्यन्त मनोयोग के साथ स्वामीजी के मद्रास व्याख्यान का पाठ सुन रहे हैं और बीच बीच में कह रहे हैं — सब श्रुति, युक्ति के अनुसार है।

जब अभ्यर्थना समिति गठित हुई तो भक्त शचीन्द्रनाथ वसु की अध्यक्षता में मैं भी एक स्वयंसेवक बन गया। एक दिन पूर्वाह्न में दस बजे मैं बलराम-मन्दिर गया था। उन्होंने नरेन्द्रनाथ मित्र महाशय के नाम एक पत्र देते हुए मुझसे कहा, "स्वामीजी बजबज स्टेशन पर आ रहे हैं। देखना यह पत्र वे सारदा महाराज (स्वामी

त्रिगुणातीत) को भेज दें।" अभ्यर्थना-समिति ने अर्थाभाव के कारण स्वामीजी को बजबज से सियालदह लाने के लिए केवल एक स्पेशल प्रथम श्रेणी का कमरा आरक्षित करा लिया गया था। स्वामीजी के आगमन के पूर्व दिन शाम को मैंने देखा कि गिरीशबाबू आदि (भक्तजन) पूज्यपाद ब्रह्मानन्द, योगानन्द आदि संन्यासीगण के साथ विचार-विमर्श कर रहे हैं — स्पेशल ट्रेन सुबह छह बजे पहुँचेगी। इस ठण्ड में लोग आयेंगे क्या? हम चाहते हैं कि जनसाधारण स्वतः प्रवृत्त होकर उनकी अभ्यर्थना करे।

पूज्यपाद महाराज बोले, "हममें से किसी का अग्रणी होना उचित नहीं। वे लोग स्वामीजी को बागबाजार में पशुपतिनाथ वसु के भवन में ले जायेंगे। हम लोगों का बाहर से ही देखना उचित होगा। मास्टर महाशय, आपका क्या विचार है?"

गिरीश बाबू थोड़े हताश होकर बोले, "मद्रास में उनकी जैसी अभ्यर्थना हुई है; हमारे बंगाल में, भारत की राजधानी कलकत्ते में यदि लोगों में वैसी उद्दीपना नहीं दिखी, तो फिर यह बड़े लज्जा की बात होगी।

उसी समय सद्यः प्रकाशित 'बसुमती' के स्वत्वाधिकारी उपेन्द्रनाथ आये और गिरीशबाबू की बात सुनकर बोले, "देखियेगा, कल स्वामीजी की अभ्यर्थना करने हजारों लोग जायेंगे। कलकत्ता नगर तथा आसपास के इलाकों में सर्वत्र बड़े-बड़े सूचना पट्ट लगा दिये गये हैं और एक लाख से ऊपर परचे बाँटे गये हैं। लोग अवश्य ही एकत्र होंगे।"

शचिनबाबू बोले, "कमेटी की ओर से दो विशाल तोरणद्वार बनाये गये हैं — एक तो सियालदह में हैरिसन रोड के जंक्सन पर और दूसरा रिपन कालेज के सामने। स्टेशन से रिपन कालेज तक का पूरा रास्ता हम लोगों ने पुष्प, लता और पताकाओं से सज्जित कर दिया है।"

अस्तु। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठकर सुबह पाँच बजे मैं स्वयंसेवक के रूप में स्टेशन जा पहुँचा। वहाँ इतनी भीड़ थी कि प्लेटफार्म तक पहुँचना ही कठिन हो रहा था और हैरिसन रोड में कृष्णदास पाल की मूर्ति के निकट से (स्टेशन तक) सबने अपने घरों को फूल-पत्तियों तथा पताकाओं से सजा रखा था। दूसरी ओर अनेक संकीर्तन-दल, विभिन्न सम्प्रदायों के साधु-ब्रह्मचारियों का समूह और विशाल संख्या में जनता का समागम हुआ था। स्वयंसेवक होने का चिह्न लगाये रहने के कारण, चारुचन्द्र मित्र महाशय के निर्देशानुसार किसी तरह हम लोग स्पेशल कोच

के लिए निर्धारित स्थान पर खड़े रहे।

जब स्वामीजी की स्पेशल ट्रेन प्लेटफार्म पर आयी, तब माननीय आनन्द चार्लु महाशय भीड़ की धक्कामुक्की में फँस गये, स्वयंसेवक किसी प्रकार उन्हें बाहर ले आये। चारुचन्द्र मित्र महाशय ने हमें आदेश दिया, "तुम लोग स्वामीजी को चारों ओर से घेरकर हमारे द्वारा दिखाए हुए रास्ते पर ले चलना।" तदनुसार हम लोग स्वामीजी को घेरकर ले गये थे। स्वामीजी जब डिब्बे से उतरे, तो हम लोगों के प्रणाम करते ही बोले, "That's all right." (ठीक है! ठीक है!)।

स्वामीजी के वहाँ पहुँचते ही चारों दिशाएँ उनकी जय-जयकार से गूँजने लगीं। चारुबाबू ने कोचमैन को घोड़े खोल देने का निर्देश दिया और हम लोगों से गाड़ी खींचने को कहा। स्वामीजी के आपत्ति व्यक्त करने पर चारुबाबू बोले, "सत्कार हम लोग कर रहे हैं, आपका विरोध नहीं चलेगा। रिपन कालेज तक तो ये लोग सहज ही आपको खींचकर ले जायेंगे।"

तब पुष्पमालाओं से भूषित स्वामीजी हाथ जोड़कर सबका अभिवादन करने लगे। कप्तान एवं श्रीमती सेवियर और गुडविन साहब फिटन में बैठे हुए थे। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द फिटन में पीछे खड़े होकर उच्च स्वर में ठाकुर-स्वामीजी की जयध्वनि कर रहे थे। आर्महर्स्ट स्ट्रीट के मोड़ के पास विजयकृष्ण गोस्वामी के निवास के सम्मुख भीड़ के कारण जब फिटन खड़ी हो गयी, तो हमने देखा कि तीसरी मंजिल के बरामदे से गोसाईंजी हाथ जोड़कर स्वामीजी को प्रणाम कर रहे हैं। स्वामीजी ने भी उनकी ओर देखकर प्रणाम किया।

बड़ी कठिनाई के साथ किसी प्रकार स्वामीजी को पुराने रिपन कालेज के सँक प्रांगण में ले जाया गया। एक छोटे साधारण से बरामदे में मेज-कुर्सी लगाकर उन बैठाया गया। वहाँ व्याख्यान देना सम्भव न था। स्वामीजी खड़े होकर अंग्रेजी केवल इतना ही बोले, "आप लोगों के उत्साह तथा सत्कार को देखकर मैं मुग्ध ह गया हूँ। मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। यहाँ पर व्याख्यान देना असम्भव है, अत आप लोगों को धन्यवाद देकर ही यह सभा विसर्जित करता हूँ।"

लौटते समय मैंने देखा कि सुप्रसिद्ध नाट्यकार और अभिनेता अपरेशचन्द्र, ज मेरे मित्र थे, भीड़ में पिस-से गये हैं। उन्हें किसी प्रकार निकालकर ले जाया गया हम युवकों का उत्साह इतना प्रबल था कि हमने कहा —पशुपतिनाथ के मका तक हम फिटन को खींचकर ले जायेंगे। उसी प्रकार हमारे अग्रसर होने के बा

लोगों की भीड़ धीरे-धीरे छँटने लगी। मैंने देखा कि सड़क की एक ओर स्वामी सुबोधानन्द और दूसरी ओर लाटू महाराज (स्वामी अद्‌भुतानन्द) भीड़ में खड़े दूर से स्वामीजी का दर्शन कर रहे हैं।

कार्नवालिस स्ट्रीट में पूर्णबाबू के मकान के सामने स्वामीजी ने फिटन रोक देने को कहा और सारदा महाराज (स्वामी त्रिगुणातीत) से बोले, "पूर्ण भाई को समाचार दे दो।" पूर्णबाबू तब स्नान कर रहे थे। भीगे वस्त्रों में ही आकर स्वामीजी को प्रणाम करते हुए उन्होंने कहा, "दफ्तर जाने में देरी न हो जाय, यह सोचकर स्टेशन पर दूर से ही आपका दर्शन करके लौट आया।" स्वामीजी बोले, "संध्या के बाद आकर मिलना।"

हम लोग जय-जयकार करते हुए गाड़ी को खींचकर पशुपति वसु के मकान तक ले गये। वहाँ भी पुष्पों से सज्जित एक विशाल तोरण बना हुआ था। मुख्यद्वार के सामने जब पशुपति बाबू तथा अन्य लोग स्वामीजी को प्रणाम करने के बाद भीतर ले जा रहे थे, उसी समय स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी योगानन्द ने सामने खड़े होकर स्वामीजी के गले में पुष्पमाला पहना दी। स्वामीजी ने 'गुरुवत् गुरुपुत्रेषु' कहते हुए दोनों को प्रणाम किया। महाराज ने भी प्रणाम करते हुए उत्तर दिया, "ज्येष्ठभ्राता सम पिता।" मास्टर महाशय के आकर प्रणाम करते ही स्वामीजी बोले, "सखि रे!" फिर नाट्याचार्य अमृतलाल वसु के प्रणाम करने पर – "यह तो वृन्दे दूती को देख रहा हूँ" – कहकर विनोद करने लगे। वहीं नीचे एक ओर बेंच पर हुटको गोपाल बैठे हुए थे। स्वामीजी उन्हें देखते ही बोले, "अरे हुटको, मैं वही नरेन हूँ। वहाँ छिपकर क्यों बैठा है, इधर आ।"

इसी प्रकार दस मिनट बीत जाने पर पशुपति वसु आदि स्वामीजी को भीतर ले जाने को आये। ऊपर पहुँचते ही गिरीशचन्द्र स्वामीजी के गले में के माला डालकर उन्हें प्रणाम करने लगे। परन्तु स्वामीजी उनका हाथ पकड़ते हुए बोले, "यह क्या करते हो जी.सी.? इससे मेरा अकल्याण होगा। तुम्हारे रामकृष्ण को मैंने 'जय राम' कहकर सागर पार पहुँचा दिया है।"

गिरीशबाबू स्वामीजी की ओर देखकर आनन्द से निहाल हो गये। यही नहीं उनके अंग-अंग से वह आनन्द फूट रहा था। वे इतने अभिभूत हो उठे कि उनकी वाणी ही अवरुद्ध हो गयी। तब स्वामीजी मास्टर महाशय के साथ बगल के कमरे में जाकर वार्तालाप करने लगे। उन्हें सम्बोधित करते हुए स्वामीजी बोले, "मास्टर

महाशय, यह (पाश्चात्य-विजय आदि) जो आप देख रहे हैं, इसमें मैं निमित्त मात्र हूँ। उन्होंने ही मुझे भेजा था। और ठाकुर ने मुझे जो संकेत दिया था, उसे अपने श्री माताजी को सूचित करते हुए मैंने उनसे अनुमति तथा आदेश माँगा था। माँ के आशीर्वाद से अनायास ही मैं समस्त बाधा-विघ्नों को पार करके वहाँ (पाश्चात्य देशों) के बड़े-बड़े ज्ञानी पण्डितों, वैज्ञानिकों तथा हजारों नर-नारियों के लिए मुख्य आकर्षण बन गया। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि यह सब ठाकुर की ही लीला है। कहने को बहुत कुछ है, बाद में कभी आपको बताऊँगा। परन्तु इस समय तो मेरा मत है कि इस देश में धर्मप्रचार बहुत हो चुका, अब आवश्यकता है शिक्षा की। जिस (शिक्षा) के द्वारा जनसाधारण भर पेट अन्न पा सकें, स्वच्छ कपड़े पहन सकें, पढ़ना-लिखना सीखकर अपनी जीविका अर्जित कर सकें — इसी की वर्तमान भारत को विशेष जरूरत है। मास्टर महाशय, जब उस देश का ऐश्वर्य निगाहों के सामने आता था, तब अपने देश की दुरवस्था यादकर मुझे रुलाई आ जाती थी और मेघदूत का वह श्लोक स्मरण हो आता था —

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्ध-गम्भीर-घोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमय भुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादान्तां तुलपितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।

चारों तरफ विद्युत के समान सुन्दरियों का समूह, दोनों ओर गगनचुम्बी प्रासादोपम भवन, जो हास्य-कौतुक नृत्य-संगीत आदि से मुखारित हैं तथा चौड़े-चौड़े साफ-सुथरे मार्ग। और अपने देश में चारों ओर गन्दगी, दुर्गन्ध, अधनंगे, श्रीहीन, क्षीणदृष्टि, निरक्षर नर-नारियों को देखकर मेरे मन में आया कि इनकी सेवा करना ही भारत का वर्तमान धर्म है। ठाकुर कहा करते थे न कि खाली पेट धर्म नहीं होता। इस सेवा-धर्म का प्रचार करना ही मेरा लक्ष्य है। पाश्चात्य जगत के समस्त प्रलोभनों से ठाकुर ने मेरी रक्षा की है और आश्चर्य की बात तो यह है कि कोई-कोई तो पहले से ही ठाकुर का भाव जानकर बैठे हैं, किसी-किसी को तो स्वप्न में भी उनका दर्शन मिला है। मैंने वहाँ की महिलाओं को माँ-बहनों के रूप में ही देखा है। उनमें से बहुतों ने माँ-बहनों की तरह ही मेरी सेवा की है। पाश्चात्य भोग-भूमि में धर्मप्रचार की आवश्यकता है और इस देश में वहाँ की वैज्ञानिक शिक्षा, उन्नत विचारधारा तथा सामाजिक स्वाधीनता का धर्म के आधार पर प्रचार करना होगा।"

उसी समय श्री (राखाल) महाराज आकर बोले, ''तुम्हारे चाय-पान की व्यवस्था हो गयी है।''

स्वामीजी ने कहा, ''राजा! आते समय विजयबाबू को देखा। उन्हें लाकर मठ में नहीं रख सके?''

राजा महाराज बोले, ''उनके अनेक शिष्य-शिष्याएँ हैं। और इधर हमें अपने ही सोने की जगह नहीं है। हाँ, यदि वे अकेले रहते तो अलग बात थी।''

स्वामीजी ने कहा, ''मैं शीघ्र ही उनसे मिलूँगा।''

जिस दिन स्वामीजी प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामीजी से मिलने उनके हैरिसन रोड स्थित आवास पर गये, उस दिन समाचार पा जाने के कारण मैं पहले से ही वहाँ उपस्थित था। मैंने देखा कि गोसाईंजी के सामने एक अलग आसन रखा हुआ है। स्वामीजी द्वारा दिये हुए समय की गोसाईंजी प्रतीक्षा कर रहे थे। उस समय वहाँ १०-१५ लोग ही उपस्थित थे, परन्तु जब स्वामीजी आये तो भीड़ बहुत बढ़ गयी। दोनों ने एक दूसरे को भली-भाँति साष्टांग प्रणाम किया। गोसाईंजी बोले, ''जय रामकृष्ण! आपके भीतर से वे ही सब कुछ कर रहे हैं। मैंने ढाका में देखा है — मैं उपासना कर रहा था और वे मेरी बगल में स्पर्श करते हुए बैठे थे। दक्षिणेश्वर जाता हूँ तो (अब भी) पंचवटी तथा उनके कमरे में दर्शन पाता हूँ।''

गोसाईंजी को मैंने पंचवटी की प्रदक्षिणा करते हुए तथा ठाकुर के कमरे में बाहें उठाये 'जय रामकृष्ण' कहकर नृत्य करते हुए देखा है।

स्वामीजी बोले, ''मैंने भी पाश्चात्य देशों में जाकर इसी तरह का बहुत कुछ देखा है और प्राणों में अनुभव किया है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ, वे ही मेरे भीतर से कार्य कर रहे हैं।

गोसाईंजी बोले, ''बड़ी अद्भुत घटना है! एक दिन मैं दक्षिणेश्वर में उनके पास गया था। लोग अधिक नहीं थे। वे एकाकी भावस्थ बैठे हुए थे। मेरे भूमिष्ठ होकर प्रणाम करते ही वे बोले, ''तुम्हारा उपासना, ध्यान आदि ठीक चल रहा है न? देह के छह रिपु विवेक-वैराग्य के पथ में बड़े बाधक हैं।'' मैंने उत्तर दिया, ''परन्तु मेरा कामदमन नहीं हुआ है।'' तब ठाकुर बोले, ''यह क्या! भगवान का इतना नाम ले रहे हो और कामदमन नहीं हुआ?'' तब उन्होंने मुझे स्पर्श करके कहा, ''जा, सच्चिदानन्द सागर में डूब जा' — और इसके साथ ही वे समधिस्थ हो गये। मैंने भी अपने शरीर के भीतर एक विद्युत-जैसी शक्ति का अनुभव किया।''

स्वामीजी ने कहा, "स्पर्श मात्र से वे जो शक्ति-संचार करते थे, यह तो मैंने भी प्रत्यक्ष अनुभव किया है। मेरी इच्छा है कि भारतवर्ष में कुछ आश्रम स्थापित करूँ। सम्प्रति मद्रास, कलकत्ता तथा काशी में इनकी स्थापना हो रही है। मेरे अंग्रेज मित्र सेवियर-दम्पति हिमालय की निर्जनता में एक आश्रम बनाना चाहते हैं। जगह ढूँढ़ी जा रही है, पर अभी तक निश्चित नहीं हुआ है। इनकी बड़ी इच्छा है कि हिमालय में आश्रम की स्थापना करके उसी में रहकर भगवद्-उपासना में जीवन बिताएँ। इन्हें सहयोग देने को दो-एक साधु-ब्रह्मचारी भी वहाँ रहेंगे। आप ज्येष्ठ — गुरुतूल्य, पूजनीय हैं, आप आशीर्वाद दीजिए कि मैं अपने इन संकल्पों को शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत कर सकूँ।"

उत्तर में गोसाईंजी बोले, "आप सिद्धसंकल्प पुरुष हैं; जो भी संकल्प करेंगे, वह अवश्य सिद्ध होगा। और यह संकल्प तो आपका नहीं, वे ही आपके भीतर इन संकल्पों का उदय कर रहे हैं।"

इसके उपरान्त दोनों ठाकुर के दिव्य-भाव पर चर्चा करते हुए भावविभोर हो गये। बाद में दोनों ने पुनः एक-दूसरे को साष्टांग प्रणाम किया और स्वामीजी लौट आये।

यह पुनीत दृश्य अब भी मेरे स्मृतिपटल पर स्पष्ट रूप से अंकित है।

□

परख के मापदण्ड

हम लोगों को आजीवन यह बात सीखनी होगी कि प्रत्येक व्यक्ति की परख उसके अपने आदर्शों के अनुसार करनी चाहिए, दूसरों के आदर्शों के अनुसार नहीं। ऐसा न करके हम दूसरों को अपने आदर्शों की दृष्टि से देखते हैं। यह ठीक नहीं। अपने आसपास रहनेवालों के साथ व्यवहार करते समय हम सदा यही भूल करते हैं; और मेरे मतानुसार, दूसरों के साथ हमारी जो कुछ भी अनबन हो जाती है, वह अधिकतर इसी एक कारण से होती है कि हम दूसरों के देवता को अपने देवता के द्वारा, दूसरों के आदर्शों को अपने आदर्शों के द्वारा और दूसरों के उद्देश्य को अपने उद्देश्य के द्वारा परखने की चेष्टा करते हैं।

- स्वामी विवेकानन्द

शिकागो धर्ममहासभा का ऐतिहासिक महत्व

स्वामी विदेहात्मानन्द

यूरोप द्वारा भारत की खोज

विगत सहस्रों वर्षों से भारतवर्ष अपनी भौतिक एवं आध्यात्मिक सम्पदा के लिए सम्पूर्ण विश्व में विख्यात रहा है। इस विपुल सम्पदा की खोज में यूरोप से भारत आने का प्रयास करनेवालों में प्रथम ऐतिहासिक उदाहरण हमें सुप्रसिद्ध विजेता सिकन्दर का मिलता है। उसने अपने भौतिक साम्राज्य के विस्तार हेतु भारत की ओर कूच किया था, परन्तु अपने गुरु का यह अनुरोध भी उसने विस्मृत नहीं किया कि भारत से वह कुछ ज्ञानी पुरुषों को भी साथ लेकर यूनान लौटे। यूरोप द्वारा भारतीय सम्पदा की यह खोज हजारों वर्षों तक चलती रही। अब से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व यूरोप के राजपरिवार तथा व्यापारी भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध जोड़कर यहाँ की समृद्धि में हिस्सा बँटाने को आकुल थे। परन्तु स्थलमार्ग पर अरबवासियों का एकाधिकार था, अतः बिचौलियों के रूप में उन्हें जो कुछ मिल जाता उसी पर सन्तोष करना पड़ता था। भारत से साक्षात् सम्पर्क तथा व्यापार करने की उनकी प्रबल आकांक्षा लगभग चार शताब्दियों पूर्व इस प्रकार पूरी हुई।

यूरोप के महान नाविक क्रिस्टोफर कोलम्बस का विचार था कि चूँकि पृथ्वी गोल है, अतः पश्चिम की ओर यात्रा करते हुए भी समुद्रमार्ग से भारत पहुँचा जा सकता है। स्पेन की महारानी की आर्थिक सहायता से उसे अपनी इस परिकल्पना को रूपायित करने का अवसर मिला और १४९२ ई. में उन्हीं के प्रतिनिधि रूप में अपने जहाजी बेड़े एक साथ वह अपनी इस महान ऐतिहासिक यात्रा पर निकल पड़ा। आखिरकार पश्चिमी समुद्र के बीच उसे एक विशाल भूखण्ड मिला, जिसे भ्रमवश उसने भारत ही समझा और 'इण्डिया' के नाम से ही उसका उल्लेख किया। परन्तु बात में पता चला कि वह एक नया ही महाद्वीप है और उसका नाम इण्डिया से बदलकर कोलम्बिया या अमेरिका कर दिया गया। अब भी वहाँ के आदि निवासियों को 'रेड इण्डियन' तथा उससे संलग्न द्वीपसमूह को 'वेस्ट इण्डीज' कहा जाता है। इसके बाद छह वर्षों के भीतर ही पुर्तगाल के वास्को-द-गामा ने भारत पहुँचने का वास्तविक जलमार्ग भी ढूँढ़ निकाला। तदुपरान्त क्रमशः अमेरिका तथा भारतीय प्रायद्वीप में अपने व्यापारिक तथा राजकीय उपनिवेश बनाकर यूरोपवासी

इन देशों की भौतिक सम्पदा का दोहन करने लगे। परन्तु अब भी वे वास्तविक भारत, आध्यात्मिक भारत, विचारों के क्षेत्र में जगद्गुरु भारत की खोज नहीं कर सके थे। भारत को इस अन्तरात्मा की वास्तविक खोज हुई इस घटना के चार शताब्दियों बाद।

चतुश्शती समारोह

क्रमशः यूरोपवासियों ने अमेरिका में बसते हुए एक महान राष्ट्र की नींव डाली। कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज के चार सौ वर्ष पूर्ण होने के अवसर को बड़े समारोहपूर्वक मनाने की योजना बनी। इस उपलक्ष्य में १८९२-९३ ई. के दौरान एक ऐसे मेले का आयोजन किया गया, जैसा कि विश्व के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। इसके लिए शिकागो में मीशीगन झील के तट पर एक पूरी नयी बस्ती का निर्माण किया गया। इस मेले के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तब तक हुए उत्कर्ष की एक विराट झाँकी प्रस्तुत की गयी थी। इसमें पाश्चात्य देशों के साथ ही साथ अल्प विकसित देशों की सभ्यता-संस्कृति के भी उत्कृष्ट नमूनों को स्थान मिला था। इसकी भव्यता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि छह महीनों तक चले इस मेले का विश्व के ७२ देशों के कुल २ करोड़ ७० लाख लोगों ने परिदर्शन किया था और यह भी एक अद्भुत संयोग है कि इस पर खर्च भी २ करोड़ ७० लाख डालर का आया था।

भौतिक जगत की इस प्रदर्शनी के साथ-ही-साथ मेले के आयोजकों ने सोचा कि इसमें मानव की वैचारिक जगत की उपलब्धियों को भी स्थान मिलना चाहिए। एतदर्थ श्रीयुक्त चार्ल्स कैरल बोनी की अध्यक्षता में 'वर्ल्डस कांग्रेस एग्जिलरी ऑफ कोलम्बियन एक्सपोजीशन' नाम से एक कमेटी का गठन हुआ और उसके अन्तर्गत २० अलग-अलग समितियाँ भी बनी। १५ मई से २८ अक्तूबर १८९३ ई.के दौरान चले इनके अधिवेशनों में सामाजिक प्रगति, पत्रकारिता, चिकित्सा विज्ञान, नशीले पदार्थों का निषेध, कानून, समाज सुधार, अर्थशास्त्र तथा धर्म आदि विषयों पर विशाल सभाएँ आयोजित हुई। परन्तु इनमें हुए सैकड़ों व्याख्यान एवं चर्चाएँ आज विस्मृति के गर्भ में समा चुकी है, इसका एकमात्र अपवाद है धर्म महासभा, जिसे आज भी पूरे भारत में याद किया जाता है। ११ से २७ सितम्बर, १८९३ ई. के दौरान सम्पन्न हुई यह सभा आज भी महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक इसलिए बनी हुई है कि इसी में भाग लेकर स्वामी विवेकानन्द के समान एक अभूतपूर्व मनीषी ने इसे

एक ऐतिहासिक आयाम प्रदान किया था। इस सभा में व्यक्त उनके विचार सुनकर पाश्चात्य जगत हृतप्रभ रह गया था और उसे यह दृढ़ बोध हुआ कि धर्म के क्षेत्र में विश्व को अब भी भारत से काफी कुछ सीखना है।

महासभा का निहित उद्देश्य

ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल से ही मिशनरी-गण अपने धर्म को ही विश्व का एकमात्र सच्चा धर्म मानकर अन्य धर्मों को हेय दृष्टि से देखते थे। अमेरिका के मिशनरियों ने भारत के धर्म तथा समाज के विषय में अनेक मनगढ़न्त बातों को सचित्र पुस्तकों के माध्यम से प्रकाशित किया था और उनका प्रचार करके वे वहाँ के लोगों के मन में भारत के जंगली, पिछड़े तथा वीभत्स प्रथाओंवाले हिन्दुओं के विषय में करुणा का संचार किया करते थे। असभ्य भारतवासियों का धर्मान्तरण कर उनकी आत्मा का उद्धार करने हेतु वे दान के रूप में करोड़ों डालर भी एकत्र करते थे, जिसका अधिकांश भाग उनके ऐशो-आरामपूर्ण जीवन बिताने पर व्यय होता था। ऐसे ईसाई धर्माचार्यों ने विश्व के अन्य धर्मों को आमंत्रित कर उनकी तुच्छता तथा अपनी उत्कृष्टता प्रमाणित करने हेतु ही इस महासभा के आयोजन में सहमति प्रदान की थी। जब कट्टर ईसाइयों ने यह आपत्ति उठायी कि अन्य धर्मों को भी ईसाई धर्म के साथ ही समान आसन देना हमारे धर्म का अपमान होगा, तो इसका उत्तर देते हुए सभा की कार्यसमिति के अध्यक्ष रेवरेण्ड जॉन हेनरी बैरोज ने कहा था, "हमारा विश्वास है कि ईसाई धर्म अन्य सभी धर्मों का स्थान ले लेगा, क्योंकि बाकी धर्मों में जो सत्य है, वे सभी तो ईसाई धर्म में है ही, इसमें और भी अधिक सत्य है, क्योंकि एकमात्र यही धर्म एक अद्वितीय मुक्तिदाता ईश्वर के विषय में बताता है। माना कि प्रकाश के साथ अन्धकार की मित्रता सम्भव नहीं, परन्तु क्षीण आलोक के साथ तो उसका साहचर्य अवश्य ही हो सकता है।" और फिर कैंटेबेरी के आर्यविशप ने तो महासभा में भाग लेने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए लिख भेजा था, "मैं दूरी अथवा किसी अन्य कठिनाई के चलते असुविधा का अनुभव नहीं कर रहा हूँ, बल्कि इसका कारण यह है कि ईसाई धर्म ही एकमात्र धर्म है और मेरी समझ में नहीं आता कि अन्य आमंत्रित सदस्यों को समानता का दर्जा दिए बिना तथा उनके मतों व दावों की तूल्यता माने बिना, किस प्रकार ईसाई धर्म इस सभा के एक अंग के रूप में गृहीत होगा।"

इन सब विरोधों तथा आपत्तियों के बावजूद धर्म महासभा का आयोजन हुआ और वह इस उद्देश्य के साथ कि इसमें अन्य धर्मों को पराजित तथा अपमानित कर

ईसाई धर्म के विश्वविजय की घोषणा की जायगी। परन्तु उन्हें मुँह की खानी पड़ी, क्योंकि इस सभा की सफलता के लिए हर तरह से योगदान करनेवाली अमेरिकी जनता ऐसे किसी दुराग्रह से मुक्त थी और उनका खुला एवं उदार दृष्टिकोण इस महासभा की सफलता का एक महत्वपूर्ण कारक सिद्ध हुआ। उपरोक्त पृष्टभूमि के साथ देखने पर ही हम स्वामी विवेकानन्द द्वारा विश्वमंच पर सम्पादित उनके महान कार्य का यथार्थ आकलन कर सकेंगे।

महासभा : एक विहंगावलोकन

भले ही यह विराट सम्मेलन अमेरिका में आयोजित हुआ हो, परन्तु विश्व के प्रत्येक धर्म का उद्‌गम एशिया से ही हुआ है। इस सभा में सम्मिलित होनेवाले दस सम्प्रदायों में से यहूदी, पारसी, कैथलिक, प्रोटेस्टेंट तथा ग्रीक चर्च — इन पाँच का उद्‌भव पश्चिमी एशिया में हुआ है और हिन्दू, बौद्ध, जैन, शिन्तो तथा कम्फ्यूशियन — ये पाँच दक्षिस-पूर्व एशिया का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। यह भी एक बड़ी विचित्र बात थी कि विश्व का सबसे प्राचीन तथा सब धर्मों का मूल वैदिक या हिन्दू धर्म अपना कोई भी औपचारिक प्रतिनिधि वहाँ नहीं भेज सका था। भारत के कुछ राजाओं और मद्रास के कुछ युवकों के अनुरोध तथा सहयोग से स्वामी विवेकानन्द स्वाधीन रूप से महासभा में भाग लेने आ पहुँचे थे, परन्तु उनके पास न तो सभा में सम्मिलित होने का निमंत्रण था और न ही कोई परिचय-पत्र। इतिहास का यह क्या ही रोचक विरोधाभास है कि जो व्यक्ति इस महासभा का नायक बननेवाला था और जिसके कारण यह सभा स्मरणीय बननेवाली थी, उसे असीम कठिनाइयाँ झेलने के बाद ही इसमें भाग लेने का अवसर मिला।

अन्ततः ११ सितम्बर, सोमवार का ऐतिहासिक दिवस आ पहुँचा। उसी दिन शिकागो आर्ट इन्स्टीट्यूट के विशाल 'कोलम्बस सभागार' में धर्ममहासभा का अधिवेशन आरम्भ हुआ। प्रातःकाल ठीक दस बजे महान धर्ममतों के सम्मान में दस बार घण्टाध्वनि हुई। हॉल की गैलरी में चार हजार तथा द्वार के पास खड़े और भी अनेक श्रोता उत्सुकतापूर्वक सभा की कार्यवाही प्रारम्भ होने की बाट जोह रहे थे। उस समय यह जनसमुद्र इतना स्पन्दनहीन तथा शान्त था कि एक प्रत्यक्षदर्शी के शब्दों में, "जब एक छोटी-सी चिड़िया खुली खिड़की में प्रविष्ट होकर मंच के ऊपर से उड़कर चली गयी तो उसके पंखों की आवाज तक साफ-साफ सुनाई दे रही थी।" सभागार में मंच की लम्बाई लगभग १०० फीट तथा चौड़ाई १५ फीट थी। मंच पर पीछे दीवाल से लगी दो यूनानी दार्शनिकों की विशाल मूर्तियाँ लगी

हुई थीं और उसके भी दाहिनी ओर देवी सरस्वती के सदृश एक मूर्ति हाथ उठाए दण्डायमान थी। मंच के बीचो-बीच अमेरिका के प्रधान ईसाई धर्माचार्य के लिए एक भव्य सिंहासन और प्रतिनिधियों के लिए उसके दोनों ओर तीन कतारों में लगभग साठ कुर्सियाँ लगी हुई थीं। ठीक दस बजे घण्टा-ध्वनि के पश्चात महासभा के कुछ प्रमुख अधिकारी तथा सभी धर्मों के प्रतिनिधि पंक्तिबद्ध होकर सभागार के मध्यवर्ती पथ से होकर मंच की ओर बढ़े और अपनी अपनी कुर्सियों पर आसीन हो गये। स्वामी विवेकानन्द की कुर्सी की संख्या इकतीस थी।

इसके आगे की कहानी स्वामीजी के ही शब्दों में — "महासभा के उद्घाटन वाले दिन सुबह हम लोग 'आर्ट पैलेस' नामक भवन में एकत्र हुए। ... सभी राष्ट्रों के लोग वहाँ आए हुए थे। भारतवर्ष से ब्रह्मसमाज के प्रतिनिधि प्रतापचन्द्र मजुमदार थे, बम्बई से नगरकर आए थे, जैन धर्म के प्रतिनिधि वीरचन्द गाँधी थे और श्रीमती बेसेन्ट तथा चक्रवर्ती थियॉसाफी का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। ... बड़े शानदार जुलूस के बाद हम लोग मंच पर बिठाए गए। कल्पना करो, नीचे एक हॉल और ऊपर एक बहुत बड़ी गैलरी, जिनमें इस देश के चुने हुए छह-सात हजार सुसंस्कृत नर-नारी खचाखच भरे हैं और मंच पर संसार के सभी राष्ट्रों के बड़े-बड़े विद्वान एकत्र हैं। और मुझे, जिसने अब तक कभी सार्वजनिक सभाओं में भाषण नहीं दिया, इस विराट जनसमुदाय के सामने बोलना होगा!

"बड़े समारोहपूर्वक संगीत तथा भाषणों के साथ सभा का उद्घाटन हुआ। तदुपरान्त एक-एक कर सभा में आए प्रतिनिधियों का परिचय दिया गया और वे सामने आ-आकर अपने व्याख्यान देने लगे। निःसन्देह मेरा हृदय धड़क रहा था और जिह्वा प्रायः सूख गई थी। मैं इतना घबड़ाया हुआ था कि सबेरे बोलने की हिम्मत ही नहीं हुई। मजुमदार की वक्तृता सुन्दर रही। चक्रवर्ती की तो उससे भी सुन्दर रही। खूब तालियाँ बजीं। ये लोग अपने अपने भाषण तैयार करके लाए थे। मैं अबोध था और बिना किसी तैयारी के आ पहुँचा था।"

प्रातःकालीन सत्र में कई बार बुलाये जाने पर भी स्वामीजी टालते गये। फिर अपराह्न में चार अन्य प्रतिनिधियों के लिखित भाषण हो जाने के बाद उन्हें पुनः बुलाया गया। स्वामीजी ने आगे लिखा है, "देवी सरस्वती को प्रणाम करके मैं आगे बढ़ा और डॉ. बैरोज ने मेरा परिचय दिया। मेरे गैरिक वस्त्रों के कारण श्रोताओं का ध्यान किंचित आकृष्ट हुआ था। अमेरिकावासियों को धन्यवाद तथा और भी दो-एक बातें कहते हुए मैंने एक छोटा-सा व्याख्यान दिया। जब मैंने 'अमेरिकावासी

बहनो तथा भाइयो' कहकर सभा को सम्बोधित किया, तो इसके साथ ही दो मिनट तक ऐसी घोर करतल-ध्वनि हुई कि कानों में अंगुली देते ही बनी। तब मैंने बोलना आरम्भ किया। और जब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करके बैठा, तो भावावेग से मानो मैं अवश हो गया था। अगले दिन सभी अखबारों मे छपा कि उस दिन मेरा भाषण ही सर्वाधिक मर्मस्पर्शी बन पड़ा था। अतः पूरा अमेरिका मुझे जान गया। महान टीकाकार श्रीधर स्वामी ने सत्य ही लिखा है — मूकं करोति वाचालम् — जिन प्रभु की कृपा गूंगे को भी धारा-प्रवाह वक्ता बना देती है, उनकी जय हो! उसी दिन से मैं विख्यात् हो गया और जिस दिन मैंने हिन्दू धर्म पर अपनी वक्तृता पढ़ी, उस दिन तो हॉल में इतनी भीड़ हुई, जितनी पहले कभी नहीं हुई थी।''

महासभा का अधिवेशन ११ से २७ सितम्बर तक चला था। इसके मुख्य सत्रों में स्वामीजी द्वारा प्रदत्त छह व्याख्यानों के विवरण उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त इसकी विज्ञान शाखा में भी उनके लगभग आठ भाषण हुए थे, जिनकी पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हैं। स्वामीजी ने इन व्याख्यानों के द्वारा सभी धर्मों की सत्यता एवं उनके सह-अस्तित्व पर जोर दिया था और साथ ही भारतीय समाज तथा हिन्दू धर्म का यथार्थ चित्र भी निरूपित किया था। परन्तु विश्वविजय का स्वप्न देखनेवाले ईसाई मिशनरी चुप नहीं बैठ सके। सभा के पाँचवें दिन १५ सितम्बर को अपराह्न में विभिन्न धर्मों के मतावलम्बी जब अपने-अपने धर्म की महत्ता स्थापित करने के प्रयास में लगे, तो अन्त में सभाध्यक्ष के रूप में स्वामीजी ने कूपमण्डूक का दृष्टान्त बताकर सबको शान्त कर दिया था। फिर १९ सितम्बर को जब स्वामीजी ने 'हिन्दू धर्म' पर अपना लिखित भाषण पढ़ा, तो उस दिन ईसाई मिशनरियों का दबा हुआ आक्रोश उबल पड़ा। रेवरेण्ड जोसेफ कुक ने उठकर हिन्दुओं की तीव्र आलोचना की और बदले में उन्हें भी काफी-कुछ झेलना पड़ा। उन्हें प्रत्युत्तर देते हुए स्वामीजी ने तीक्ष्ण स्वर में कहा, ''हम पूर्वी देशों के लोग यहाँ दिन-पर-दिन बैठे ऐसी शेखी भरी बातें सुनते रहे हैं कि ईसाई राष्ट्र ही सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली है और हम लोगों को भी ईसाई हो जाना चाहिए। चारों ओर नजर दौड़ाने पर हमारी दृष्टि दुनिया के सर्वाधिक समृद्ध राष्ट्र इंग्लैण्ड की ओर जाती है, जिसके पाँव २५ करोड़ एशियावासियों की गरदन पर हैं। ... अपने ही मानव भाइयों का गला काटकर ईसाई धर्म ऐश्वर्य अर्जित करता है। हिन्दू ऐसी कीमत परसमृद्ध होना नहीं चाहेगा।'' इसके बाद बोलनेवाले ईसाई मिशनरीगण सभा में अपने संकीर्ण विचार थोपने का साहस शायद नहीं जुटा सके थे।

२७ सितम्बर को हुए सभा के अन्तिम सत्र में, अपने विदाई भाषण में मानो विश्व को अपने मूल सन्देश से अवगत कराते हुए स्वामीजी ने कहा – "ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं बनाना है, और न ही हिन्दू या बौद्ध को ईसाई; परन्तु प्रत्येक को चाहिए कि वह अन्य धर्मों के सारभाग को आत्मसात करके पुष्ट हो और अपने वैशिष्ट्य को बनाए रखकर अपनी ही प्रकृति के अनुसार विकसित हो। यदि इस महासभा ने दुनिया के समक्ष कुछ प्रदर्शित किया है तो वह यह है – इसने यह सिद्ध कर दिया है कि साधुता, पवित्रता तथा दयाशीलता किसी सम्प्रदाय-विशेष की बपौती नहीं है और प्रत्येक धर्म में अति उन्नत चरित्र के नर-नारियों का जन्म हुआ है। अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि केवल उसी का धर्म टिका रहेगा और अन्य सारे धर्म लुप्त हो जाएँगे, तो वह वस्तुतः दया का पात्र है; मैं उसके लिए हृदय से दुखी हूँ और उसे स्पष्ट रूप से बताए देता हूँ कि समस्त प्रतिरोधों के बावजूद शीघ्र ही प्रत्येक धर्म की पताका पर लिखा होगा – 'संघर्ष नहीं, सहायता, विनाश नहीं, ग्रहण, मतभेद एवं कलह नहीं, समन्वय और शान्ति'।"

यह सभी धर्मों की सत्यता, समानता एवं स्वीकृति ही भारत का चिरन्तन सन्देश है और शिकागो धर्ममहासभा के दौरान स्वामीजी के अधरों से यह जितने उत्कृष्ट रूप में व्यक्त हुआ, वैसा अन्यत्र कभी नहीं हुआ। विश्व के लिए अब भी इसे समझना तथा कार्यरूप में परिणत करना बाकी है।

□

प्रकृति और मानव

मानव जाति का इतिहास प्राकृतिक नियमों के साथ इसके युद्ध का इतिहास है और अन्त में मनुष्य ही प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है। अन्तर्जगत में आकर देखो, वहाँ भी यही युद्ध चल रहा है। पाशविक और आध्यात्मिक मानव का, प्रकाश और अन्धकार का यह संग्राम निरन्तर जारी है। मानव यहाँ भी जीत रहा है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रकृति के बन्धन को चीरकर मनुष्य अपने गन्तव्य मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

- स्वामी विवेकानन्द